मोह मन हरष बिसेषी।' (१। १३९। १) अतः भुशुण्डिजीको भी सुख मिला, इसीसे ***'सेवक सुखद'*** कहा। विमोह दूर करना और सुख देना कृपा है, अतः ***'कृपासंदोह'*** कहा, यथा—***'तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ', 'नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भइउँ……।'*** पुनः, ***'सेवक सुखद'*** का भाव कि शरणको सदा सुख देते आये हैं, मैं शरण हुआ, अतः मुझे भी सुख दिया। इन विशेषणोंको आगे स्पष्ट करते हैं।

२ ***'मन महँ होइ हरष अति भारी।'***—क्योंकि जिस मनमें प्रथम ऐश्वर्यका विचार करनेसे भारी मोह होता था, यथा—***'करउँ बिचार बहोरि बहोरी।……' 'मन मोह बिसेषा'***, उसीमें अब प्रभुतापर विचार करनेसे भारी हर्ष होता है—यह असीम कृपा है। 'भारी मोह' छुड़ाकर 'अति भारी हर्ष' दिया, अतः ***'कृपासंदोह'*** कहा। तथा कृपासन्दोह हैं, अतः भारी कृपा की। पुनः, भारी मोहके सम्बन्धसे यहाँ ***'अति भारी'*** विशेषण दिया। यह भी जनाया कि मोहसे जितना दुःख हुआ उससे कहीं अधिक सुख अब हो रहा है। वह ***'भारी'*** था, यह ***'अति भारी'*** है। [पं०—जिनका यह ऐश्वर्य है उन्होंने मुझपर कृपा की यह समझकर हर्ष हुआ।]

३—***'भगतबछलता प्रभु कै देखी।'*** इति। (क) प्रभुताका विचारना कहा, क्योंकि पूर्व देखी हुई वस्तुका विचार किया जाता है, भक्तवत्सलता अब देख रहे हैं, अतः ***'देखी'*** कहा। पुनः ऐश्वर्य सदा देखनेको नहीं मिलता, वह विचारकी वस्तु है, भक्तवत्सलता व्यवहारमें क्षण-क्षण देखी जाती है, अतः उसका विचारना कहा और इसका देखना। (ख) सिरपर हाथ फेरना, मोहविकारका नाश करना भक्तवत्सलता है। (ग) ***'प्रीति बिसेषी'*** का स्वरूप आगे दिखाते हैं, ***'सजल नयन……।'***

दो०—सुनि सप्रेम मम बानी देखि दीन निज दास।
बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास॥
काकभसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि॥ ८३॥

अर्थ—मेरी प्रेमयुक्त वाणी सुनकर और अपने दासको दीन देखकर रमापति रामचन्द्रजी सुख देनेवाले, गम्भीर और कोमल वचन बोले। हे कागभुशुण्डि! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर वर माँग। अणिमादिक अष्टसिद्धियाँ और ऋद्धियाँ तथा सब सुखोंकी खानि मोक्ष॥ ८३॥

नोट—१ (क) ***'देखि दीन निज दास'*** का दूसरा अर्थ—'मुझे दीन और निज दास देखकर'। (ख) वाणी प्रेमाकुल हृदयसे निकली है, यथा—***'प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी'***, अतः ***'सप्रेम'*** विशेषण दिया। वचन कानोंका विषय है, अतः उसका सुनना कहा, दशा नेत्रोंसे देखी, अतः दीन-दशाका देखना कहा। इतना चक्कर खानेपर भी कहीं शरण न गये, अपने ही स्वामीसे रक्षा चाही; अतः ***'देखि निज दास'*** कहा। ***'धरनि परेउँ मुख आव न बाता'*** और ***'त्राहि त्राहि' 'आरत जनत्राता'*** यह दीनता देखी। यथा—***'त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर।'*** (सुं० ४५) ***'अस कहि करत दंडवत देखा।……दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा', 'दीन देखि रघुपति मन भाएउँ।'*** (६। ६३। ६) (ग) ***'बचन सुखद गंभीर मृदु'*** इति। श्रवणको सुखदायक होनेसे ***'सुखद'*** और गूढ़ होनेसे गम्भीर कहा, यथा—***'गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह।'*** (१। १८६) ***'मृदु'*** अर्थात् वाणीके शब्द कोमल थे, मीठे थे, कानोंको कर्कश और मनको लगनेवाले न थे। यथा—***'श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।'*** (घ) ***'अति प्रसन्न मोहि जानि', 'बर माँगु', 'आजु देउँ सब संसय नाहीं', 'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'*** ये श्रवणसुखद हैं। ***'अनिमादिक सिधि अपर रिधि……'*** से ***'आजु देउँ सब'*** तक और ***'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'*** गम्भीर हैं। मृदु सभी हैं। ***'अनिमादिक……'*** इत्यादि भी श्रवणसुखद हैं; पर इनसे भुशुण्डिजीको सुख नहीं हुआ जैसा आगे स्पष्ट है। इन वचनोंकी गम्भीरता उनके विचारसे सिद्ध है। [***'अति प्रसन्न जानि'*** यह मृदु है और ***'बर माँगु'*** यह गम्भीर है, इनमें 'पूर्ण भक्ति माँग' यह गुप्त है। (वै०) प्रसन्न जानकर वर माँगा जाता है, यथा—***'प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ बिसोकी॥'*** अतः कहते हैं कि हमको अति प्रसन्न जानकर वर माँगो। रा० शं० श०]

२ (क) 'अणिमादिक' कहकर अणिमासे प्रारम्भ होनेवाली अष्टसिद्धियाँ सूचित कीं। अन्य सिद्धियाँ भक्तोंके कामकी नहीं होतीं, अतः उनको न कहा। *'अपर रिधि'*—ऋद्धिसे 'निधि' जानिये, दोनों पर्याय हैं। निधि—२। १३५ में देखिये। (ख) *'मोच्छ सकल 'सुखखानि'* कहकर मोक्ष माँगनेकी वस्तु जनायी, उसका लोभ दिखाया। इसमें गम्भीरता यह है कि देखें यह इसीमें लुभा जाता है या कि मेरा सच्चा भक्त है, मेरा भक्त होगा, चतुर होगा, धीर होगा तो मोक्षका लोभ न करेगा। वचनसे चलायमान न होगा, यथा—*'अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥'* (११९। ७), *'रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई॥'* (८५। ५), *'माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥'* (मनु-शतरूपा १। १४५। ३) पुनः, *'सकल'* अर्थात् मोक्ष, ऋद्धि, सिद्धि ये सब सुखखानि हैं। यथा—*'भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'* (८४। ५)

ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि* दुर्लभ गुन जे जग जाना॥ १॥
आजु देउँ सब† संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माहीं॥ २॥
सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥ ३॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ ४॥

अर्थ—ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान और अन्य अनेक गुण जो संसारमें मुनियोंको भी दुर्लभ हैं॥ १॥ यह सब आज मैं दूँगा, इसमें सन्देह नहीं। जो तेरे मनको भावे सो माँग ले॥ २॥ प्रभुके वचन सुनकर विशेष अनुराग हुआ। तब मैं मनमें विचार करने लगा कि॥ ३॥ प्रभुने मुझे सब सुख देनेको कहा सही, पर अपनी भक्ति देनेकी (बात) न कही॥ ४॥

नोट—१ 'ज्ञान, विवेक और विज्ञान' इति। भगवान् (भा० ११। १९ में) उद्धवजीसे ज्ञान-विज्ञान-वैराग्यादिके भेद यों कहे हैं—'**नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै। ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥ १४॥ एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्। स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥ १५॥ कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम्। विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ १८॥ धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्। गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः॥**' (२७) अर्थात् जिसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें (पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रारूप) नौ (तत्त्व), (मनसहित दसों इन्द्रियाँ) ग्यारह, पाँच (महाभूत) और तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) ये अट्ठाईसों तत्त्व प्रत्यक्ष अनुगत जान पड़ें और इन तत्त्वोंमें अधिष्ठानरूपसे एक आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया जाता है, वही मेरा निश्चित ज्ञान है। अर्थात् वह ज्ञान कहा जाता है (श्लोक १४) जब जिससे एकके अनुगत अनेक भावोंको न देखकर उस एक ही आत्मतत्त्वका निरन्तर अपरोक्ष अनुभव होता रहता है और उसके अतिरिक्त त्रिगुणमय भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि दिखलायी नहीं पड़ते उसे विज्ञान कहते हैं (श्लोक १५) कर्मोंके परिणामी होनेसे ब्रह्मलोकपर्यन्ततक सब अमङ्गलरूप हैं। भाव कि कर्म जीवके द्वारा किये हुए प्रयत्नविशेष हैं, इसलिये विकारी हैं, नश्वर हैं। अतएव उनके फलस्वरूप ब्रह्मलोकपर्यन्त सब अदृष्ट सुख भी क्षणभङ्गुर एवं दुःखरूप ही हैं। ऐसा विचार अदृष्ट फलोंमें ऐसी दृष्टि रहना वैराग्य है। गुणोंमें अनासक्ति वैराग्य है।

वैराग्य चार प्रकारका है—(१) यतमान (विषयोंको पूर्ण रीतिसे न त्याग सकनेपर भी उनके मिलनेका आग्रह छोड़ देना)। (२) व्यतिरेक (किसी-किसी विषयको छोड़ देना जैसे बिना लोनके दाल खा लेना)। (३) एकेन्द्रिय (प्रवृत्ति रहनेपर भी मनमें विषयोंके अनुरागकी शिथिलता होनेके कारण केवल बाह्येन्द्रियोंसे ही विषय-सेवन करना)। (४) वशीकृत (बाह्येन्द्रियोंसे भी विषय-सेवनमें उदासीनता) यथा—'**वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागसौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्॥**'—(शुकोक्तिसुधासागरसे)।

---

* सुर—रा० गु० द्वि०, पां०। मुनि—भा० दा०, का०। † तव—का०

२ (क) *'आजु देउँ'* अति प्रसन्नता सूचित करता है। यथा—*'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहुँ देहुँ सो तोही॥'* (३। ११। २३), *'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि॥'* (१। १४८) प्रभु जिसे देते हैं, उसे तत्काल ही देते हैं, यथा—*'तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई।'* (शबरीजी) (ख) *'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'* में गम्भीरता यह है कि तेरे मनको ये न भावेंगे, पर तुझे जो भाता है वह माँग तभी मैं दूँगा। इसीपर भुशुण्डिजी आगे कहते हैं कि *'मन भावत बर माँगउँ स्वामी।'* इस सम्बन्धसे *'आजु देउँ सब संसय नाहीं'* का ध्वनिसे यह अर्थ निकलता है कि उनके देनेमें सन्देह नहीं है पर भक्ति (बिना माँगे) देनेमें सन्देह है। माँगनेपर देनेमें सन्देह नहीं करते। श्रीसुतीक्ष्णजीको भी माँगनेपर ही दिया था। भेद दोनोंमें इतनामात्र है कि सुतीक्ष्णजीने प्रभुसे अन्य सब पानेपर भक्ति माँगी और इन्होंने अन्य सबका तिरस्कार करते हुए भक्ति माँगी। दोनों ही *'निज दास'* हैं, पर भुशुण्डिजी अधिक अनन्य देख पड़ते हैं।

३ *'सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ……'* इति। भाव कि विशेष प्रेम तो पूर्व ही था—*'भगतबछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेषी॥'* अब अपने ऊपर प्रभुकी रीझ देख और अधिक हो गया इसीसे भक्तिसे उन सब सुखोंकी तुलना करने लगा। **सही**=सत्य ही, निश्चय। जो प्रभुने कहा था कि *'आजु देउँ सब संसय नाहीं'* उसीकी पुष्टि 'सही' शब्दसे कर रहे हैं।

भगतिहीन गुन सब सुख कैसे*। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥५॥
भजनहीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा॥६॥

शब्दार्थ—**बिंजन (व्यंजन)**=भोजनके पदार्थ। **लवन (लवण)**=लोन, नमक।

अर्थ—भक्तिरहित सर्वगुण एवं सब सुख कैसे हैं, जैसे लोन बिना बहुत-से भोजनके पदार्थ हों। अर्थात् फीके वा मीठे हैं॥ ५॥ भक्तिहीन सुख किस कामके? ऐसा विचारकर, हे खगराज! मैं बोला॥ ६॥

नोट—१ प्रभुने दो चीजें देनेको कहीं—एक तो सुख, दूसरे गुण, यथा—*'अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि', 'मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।'* अत: भुशुण्डिजीका इन दोनोंपर विचार करना कहा—*'भगतिहीन गुन सब सुख कैसे।'* प्रथम प्रभुने अणिमादिक समस्त सुखोंको कहा तब गुणोंको, अत: यहाँ भी वही क्रम रखा, यथा—*'प्रभु कह देन सकल सुख सही।', 'भगति हीन गुन सब……।'* फिर दोनोंको एकसे सीठे दिखानेके लिये दोनोंको एक साथ कहा।

२—*'भजनहीन सुख कवने काजा'* का भाव कि बिना भक्तिके सुख स्थिर नहीं रह सकता, अत: वह व्यर्थ है, यथा—*'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥'* (११९। ६), *'रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥'* (५। २३। ५) भजनसे ये आप-से-आप आ जाते हैं, यथा—*'अनइच्छित आवै बरिआई।'*

वि० त्रि०—*'भजनहीन……खगराजा।'* भजनमें ही सुख विशेष है, जो उस सुखसे अपरिचित है, वही दूसरे सुखकी ओर दौड़ता है। बिना भजनके जियकी जरनि नहीं जाती। जब जलन बनी है, तब सब सुख लेकर क्या होगा, विश्राम तो मिलेगा नहीं, अत: भुशुण्डिजीने कहा कि मैंने ज्ञान-विराग, ऋद्धि-सिद्धि आदि सभी सुखोंको (बिना भजनके) अकिंचित्कर माना।

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥७॥
मनभावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥८॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि आप प्रसन्न होकर वर देते हैं और मुझपर कृपा और स्नेह करते हैं (तो) हे स्वामिन्! मैं अपने मनको भानेवाला वर माँगता हूँ। आप उदार और हृदयके भीतरकी जाननेवाले हैं॥ ७-८॥

* कैसे—रा० गु० द्वि०। ऐसे—भा० दा०, छ०, का०। उदाहरण अलङ्कार।

नोट—१ प्रभुने कहा था कि *'माँगु बर' 'अति प्रसन्न मोहि जानि'* और *'आजु देउँ'*; अतः माँगनेके समय भुशुण्डिजीने इन्हीं शब्दोंको प्रथम पकड़ा—*'जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू।'* बार-बार वर माँगने और वर देनेको एवं मनभावत वर माँगनेको कहना, यह प्रसन्नता, कृपा और स्नेह सूचित करता है। यथा—*'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। मागहु बर जोइ भाव मन······'॥* (१। १४८) किसीका मत है कि दीनता देखकर रक्षा करना कृपा है और अपनायत जानकर जो करुणा की जाय वह स्नेह है।

२ *'जौं'* का भाव कि यदि प्रसन्नता, कृपा और प्रेम है तो जो मैं माँगता हूँ वह आप अवश्य देंगे। जिसपर भगवान् अति प्रसन्न होते तथा दया और छोह करते हैं उसीको 'भक्ति' देते हैं, दूसरेको नहीं, पर माँगनेपर ही देते हैं। यथा—(१) *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन (बिगत अभिमाना)॥'* (५। ३३। ४। ६)·········*'नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥ सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥'* (५। ३४। २) (२) *'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥'* (३४) *'देहु भगति रघुपति अति पावनि।······होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु।'* (श्रीसनकादिजी)

३ (क) *'मन भावत बर मागउँ स्वामी'* यह प्रभुके *'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'* का उत्तर है। भाव यह कि जो आपने गिनाये वह मेरे 'मनभावन' नहीं हैं। जो मनको भाता है वह यह है जो मैं माँगनेको हूँ। (ख) *'उदार उर अंतरजामी'* इति। वर माँगते हैं, प्रभु देनेको कह चुके हैं। भुशुण्डिजी मनुजी और नारदजीके प्रसंगोंसे उदारता जनाते हैं। वहाँ श्रीमुखवचन है कि *'महादानि अनुमानि'*, *'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे'*, अतः *'उदार'* विशेषण दिया। पुनः, यह शब्द साभिप्राय है। जो उदार होगा वही प्यारी वस्तु दे सकेगा, दूसरा नहीं। भक्ति श्रीरघुनाथजीको प्रिय है, यथा—*'पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी।'* (११६। ४) [पात्रापात्रका विचार न करके देना उदारता है—**'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुवदा औदार्य्यवचसा हरे॥'** इति भगवद्गुणदर्पणे (वै०)। *'उर अंतरजामी'* का भाव कि आप हृदयका भाव जानते हैं—*'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'* (२। २५७) आपसे कहना ही क्या। पर आप कहलाकर देना चाहते हैं—*'माँगु जो भाव'*, बिना माँगे नहीं देते; अतः मैं माँगता हूँ।]

रा० शं०—इन चौपाइयोंसे मिलते हुए वचन पार्वतीजीके हैं—

श्रीपार्वतीजी		कागजी
जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी।		*जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू।*
जानिय सत्य मोहि निज दासी॥' (१। १०८)	(१)	*मोपर करहु कृपा अरु नेहू॥*
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। ,,	(२)	*मन भावत बर मागउँ स्वामी।*
'जासु भवन सुरतरु तर' 'सर्बज्ञ शिव' ,,	(३)	*'तुम उदार उर अंतरजामी'*

दो०—अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥८४॥

अर्थ—हे भक्तोंके कल्पवृक्ष! हे शरणागतहितकारी! हे दयासागर! हे सुखके निवासस्थान! हे प्रभो श्रीरामचन्द्रजी! मुझे दया करके वही अपनी निज भक्ति दीजिये। जिस आपकी अविरल विशुद्ध भक्तिको श्रुति और पुराण गाते हैं, जिसे योगीश्वर मुनि ढूँढ़ते हैं और जिसे आपकी कृपासे ही कोई पाता है (अर्थात् यह सब गुण जिसमें हैं वह भक्ति दीजिये)॥ ८४॥

खर्रा—*'अबिरल······पाव'* इति। यहाँ अनेक निदर्शनों, दृष्टान्तोंका यही फल है कि हमारे माँगनेमें वस्त्वन्तरका लेश न पड़े।—१ 'अविरलभक्ति' (निर्भर परिपूर्ण तैलधारावत् सदा एकरस बनी रहनेवाली अचल भक्ति),

यह 'वस्तु-नाम-निदर्शन' २ 'विशुद्ध' (अव्यभिचारिणी) यह गुणनिदर्शन। ३ *'जेहि खोजत'* यह 'सकल शिष्ट पुरुषोंद्वारा जो परिगृहीत है' उसका निदर्शन। ४ 'श्रुति-पुराण' यह प्रमाण निदर्शन है। ५ 'प्रभुप्रसाद यह उपायसे असाध्य केवल रामकृपासे साध्य' का निदर्शन है।

नोट—१ (क) *'खोजत'* कहकर *'कोउ पाव'* कहनेका भाव कि योगीश्वर मुनि उसके लालायित रहते हैं। इसीसे दिन-रात भक्तिकी खोजमें, मिलनेके उपायमें रहते हैं, तब भी वह नहीं मिलती। यह भक्तिकी अत्यन्त दुष्प्राप्यता और उत्कृष्टता दिखायी। (ख) *'प्रभु प्रसाद कोउ पाव'* का भाव कि ऐसों-ऐसोंको भी बिना कृपाके नहीं मिलती और कृपा कहीं किसी एकपर हो गयी तो हो गयी, सब योगीश्वरों या मुनियोंपर नहीं होती; अत: *'कोउ पाव'* कहा। किसी-किसीको मिलती है, यथा—*'कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥'* (४। १६। १०) विशेष—*'नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी।—सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥'* (५४। १—७) तथा (४। १६। १०) में देखिये।

२—(क) *'भगत कल्पतरु', 'प्रनतहित', 'कृपासिंधु', 'सुखधाम'* ये सब विशेषण पूर्वके *'उदार'* विशेषणके अनुकूल हैं। इन सबोंको देखकर भक्तिको अत्यन्त दुष्प्राप्य जनाया। विशेषणोंके भाव और उदाहरण—

भाव	उदाहरण
'आप भक्तकल्पतरु हैं, आपका मैं निज दास हूँ	१ *देखि दीन निज दास*
आप प्रणतहित हैं, मैं प्रणत हूँ	२ *धरनि परेउ—त्राहि त्राहि आरत जनत्राता*
आप कृपासिन्धु हैं, मैं कृपाका पात्र दीन हूँ	३ *'तू दयालु दीन हौं' 'देखि दीन—'*
आप सुखधाम हैं, मैं दु:खी और श्रमित हूँ	४ *'भयउँ श्रमित मन मोह—', 'तुम्ह सुख—'* *'श्रमभजन हौं अति दुखित त्रिबिधि श्रम—'*

पुन:, (ख) कल्पतरुका भाव कि कल्पवृक्षके तले जो कोई जाकर कुछ भी मनोरथ मनमें करता है वह तुरंत पूरा होता है (मनोरथ करनेभरकी देर होती है) तथा सब सोच भी शमन हो जाते हैं, यथा—*'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥'* (अ० २६७) वैसे ही आप भक्तोंके कल्पतरु हैं। वह तरु देवताओंका है और आप भक्तोंके हैं। आपके पास भक्त जो मनोरथ करे वह तुरंत पूर्ण होता है। पुन: भाव कि उससे जितना चाहे ले, उसके पास देनेसे कभी घटता नहीं है। (रा० प्र०) *'प्रनतहित'* का भाव कि शरणागतका हित आप अवश्य करते हैं। भक्तिसे उसका हित होता है। मैं प्रणत हूँ, भक्ति देकर मेरा हित कीजिये। (ग) कल्पतरु कहकर प्रणतहित कथनका भाव कि देवकल्पतरु हित-अनहित दोनों देता है पर आप भक्तको हितकर पदार्थ देते हैं, अहितकर नहीं देते, यथा—*'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥'* (१। १३२) *'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।'*

३ *'सोइ निज भगति—'* इति। (क) *'सोइ निज भगति'* से जनाया कि भक्ति अनेक प्रकारकी होती है, वे भक्तियाँ मैं नहीं चाहता, मैं तो आपकी जो खास भक्ति है सच्ची भक्ति है, उसे चाहता हूँ। पुन: *'सोइ निज भगति'* से जनाया कि उपर्युक्त 'अविरल विशुद्ध भक्ति' ही श्रीरामजीकी 'निज भक्ति' है। यही असंख्योंमें किसी एकको होती है। (ख) *'प्रभु देहु'*—भाव कि आप देनेको समर्थ हैं। आपका वचन अन्यथा नहीं होता। आपने मनभावत वर देनेको कहा है और आप दे सकते हैं। यथा—*'मोरें नहिं अदेय कछु तोही।'* (१। १४९। ८) श्रीशतरूपाजीने भी प्रभुके *'देबि माँगु बरु जो रुचि तोरें'* इन वाक्योंपर प्रभुने सम्बोधन करते हुए जो कहा था कि *'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई।'* (१। १५०। ७) *'—सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु।'* (१५०) वह सब भाव *'प्रभु'* शब्दमें हैं। (ग) *'दया करि'* का भाव कि यह निज भक्ति आपकी प्रसन्नता और कृपासे ही मिलती है। यही बात ऊपर *'प्रभु प्रसाद कोउ पाव'* में कह ही चुके हैं, अत: *'दया करि'* देनेको कहा। पुन: भाव कि योगीश्वर और मुनीश्वर तो अनेक प्रयत्न करते हैं तब

कहीं आप प्रसन्न होकर देते हैं, पर मैंने तो कोई प्रयत्न नहीं किया, न कर सकता हूँ, आप जैसे अपनी अहैतुकी कृपासे स्वयं प्रसन्न हो गये हैं, वैसे ही उसी अहैतुकी कृपासे दीजिये। (घ) प्रभु कहकर भी *'राम'* कहनेका भाव कि आप आनन्दसिंधु सुखराशि हैं, अतः मुझे भी निज भक्ति देकर आनन्दित कीजिये।

श्रीरामगीता (भुशुण्डिप्रति)

एवमस्तु कहि रघुकुलनायक। बोले बचन परम सुखदायक॥ १॥
सुनु बायस तइँ सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥ २॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥ ३॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' अर्थात् यह सब तुमको प्राप्त हो, ऐसा कहकर रघुकुलमें शिरोमणि तथा उसके स्वामी परम सुख देनेवाले वचन बोले॥ १॥ हे काक! सुन, तू स्वभावसे ही चतुर है। ऐसा वरदान कैसे न माँगता? (अर्थात् ऐसा वर माँगना तेरे योग्य ही है)॥ २॥ सब सुखोंकी खानि भक्ति तूने माँगी। संसारमें तेरे समान कोई बड़भागी नहीं है॥ ३॥

नोट—१ (क) *'एवमस्तु'* के साथ *'रघुकुलनायक'* कहनेका भाव कि रघुवंशी सब उदार और वचनके धनी होते आये हैं; यथा—*'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।'* (१। २३१), *'प्रान जाहु बरु बचन न जाई।'* (२। २८) और आप उसके राजा हैं अतः यह *'एवमस्तु'* कहना योग्य ही है। (ख) *'परम सुखदायक'* का भाव कि पूर्वके वचन सुखदायक थे, यथा—*'बचन सुखद गंभीर मृदु……'* और ये परम सुखदायक हैं। परम सुखद होनेके कई कारण आगे स्पष्ट हैं—(१) जो माँगा वही यथार्थ माँगनेकी वस्तु निकली, अपना अनुमान ठीक निकला। (२) प्रभुने *'बड़भागी'*, *'परम सयाना'* कहकर बुद्धिकी प्रशंसा की। (३) जो प्रथम गिनाकर माँगनेको कहा वह सब भी प्रभु दे रहे हैं और उससे अधिक अपनी भक्ति भी दी। (४) सदाके लिये मायासे रहित कर दिया इत्यादि।

२—*'सहज सयाना'* और *'बड़भागी'* कहकर जनाया कि—(क) भक्तिकी चाह करनेवाला ही चतुर और बड़भागी है, दूसरा नहीं। यथा—*'परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर।'* (आ० ६), *'रामभगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहु ताकें॥ चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥'* (१२०। १९-२०), *'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥'*(४। २३। ७) (ख) मोक्षादिका इच्छुक भाग्यवान् है और भक्ति चाहनेवाला बड़ा भाग्यवान् है।

३—*'सब सुख खानि'* इति। चारों मोक्षोंको *'सकल सुख खानि'* कहकर अब भक्तिको *'सब सुख खानि'* कहनेका भाव कि 'वस्तुतः मोक्षको *'सकल सुख खानि'* कहनेमें गम्भीर आशय था कि इस लोभसे मोक्ष माँग लें; वस्तुतः भक्ति ही *'सब सुख खानि'* है। भक्ति अधिक है क्योंकि इससे मोक्ष स्वयं ही *'अनइच्छित बरियाई'* आ प्राप्त हो जाता है।

जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥ ४॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥ ५॥

अर्थ—जिसे वे मुनि भी करोड़ों उपाय करके भी नहीं प्राप्त कर पाते जो जप, योग और अग्नि एवं योगाग्निसे शरीरको जला डालते हैं॥ ४॥ तेरी चतुरता देखकर मैं रीझ गया। तूने भक्ति माँगी जो मुझे अत्यन्त प्रिय है एवं तूने भक्ति माँगी यह चतुरता मुझे अत्यन्त प्रिय लगी॥ ५॥

नोट—१ *'जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं……।'* से योगादि साधनोंद्वारा अप्राप्य दिखाकर *'मागेहु भगति मोहि अति भाई'* से भक्तको बिना यत्न प्रभुकी कृपासे सुलभ दिखाया। २—*'चतुराई'* में भाव कि हमारे भुलावा देनेमें, प्रलोभनमें तू न भुला। ३—*'मोहि अति भाई'* का भाव कि योग, यज्ञ, ज्ञानादि सब 'भाते' हैं और भक्ति *'अति'* भाती है। आगे प्रभु स्वयं इसीको विस्तारसे कह रहे हैं। ४—*'जोग अनल तन दहहीं'*, अर्थात् पंचाग्नि तापते

हैं, तथा योगाग्निसे शरीर जलाते हैं, यथा—*'तपसानल में जुग पुंज जरै।'* (क० ७। ५५), *'जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावइ ज्ञानघृत······॥'* (११७)

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे॥ ६॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ ७॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥ ८॥

शब्दार्थ—विभाग=किसी वस्तुके बहुत-से भाग पृथक्-पृथक्।

अर्थ—हे पक्षी! सुन, अब मेरी कृपासे सब शुभ गुण तेरे हृदयमें बसेंगे॥ ६॥ भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग, चरित्र, चरित्रोंके रहस्य एवं रहस्य (गोप्य चरित्र), पृथक्-पृथक् एवं इन सबके जो बहुत-से भाग हैं—इन सबका भेद तू मेरी प्रसन्नतासे जानेगा, तुझे साधन (करके जानने) का कष्ट न होगा अर्थात् ये सब सहज ही प्राप्त हो जायँगे॥ ७-८॥

पं० वि० त्रि०—*'सुनु बिहंग—तोरे'* इति। भक्तिका वरदान देते ही सरकारने कृपा की। यथा—*'भजत कृपा करिहैं रघुराई'* जिन सुखोंका भुशुण्डिजीने प्रत्याख्यान किया था, उन सबको भी तथा अन्य महत्तर सुखोंको भी जो कि देवता और मुनियोंको दुर्लभ है, कागको दे डाला। अर्थात् भक्तिके हो जानेपर ऐसा कोई सद्गुण या ऐसा कोई सुख है ही नहीं जिसकी प्राप्ति न हो।

नोट— १ भक्ति-ज्ञानादिके विभाग।—भक्ति नवधा प्रकारकी है। इस नवधामें भी एक-एकके अनेक भाग और भेद हैं। नवधा भी कई प्रकारसे कही गयी है। देखिये शबरीजीको और लक्ष्मणजीको जो उपदेश की गयी है। पुनः, वाल्मीकिजीने १४ प्रकारकी भक्ति कही है। नवधाके पश्चात् दशधा प्रेमा और परा भक्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पुरजनको भक्तिका उपदेश दूसरे ही प्रकारका है। फिर भी भक्तिके प्रकारका अन्त नहीं। भक्त-भक्तकी भावना पृथक्-पृथक् देखी जाती है। प्रयोजन तथा अधिकारी-भेदसे भक्तिके अनेक विधान हैं। बालकाण्ड ३७ (१३) *'भगति निरूपन बिबिध बिधाना'* देखिये। ज्ञान भी कई प्रकारका होता है—वस्तुज्ञान, देशज्ञान, कालज्ञान, शास्त्रज्ञान, अनुभवज्ञान इत्यादि। योगके अष्ट अङ्ग हैं। अङ्गोंके भी भेद हैं, जिससे योगशास्त्र ही एक पृथक् शास्त्र बन गया। चरित्रके अनेक भेद कल्पभेदसे तथा जन्म, बाल, पौगंड, कुमार, किशोरादि अवस्थाओंके भेदसे, वन, युद्ध राज्यादिके चरित्र, रसके भेदसे १२ प्रकारके चरित्र इत्यादि। रहस्य भी अनेक प्रकारके हैं, यथा—*'औरौ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥'* (१। १११। ३) जैसे कि *'मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ'*, चित्रकूटमें गुप्त रहस्य, खर-दूषणवध-रहस्य कि सब एक-दूसरेको रामरूप ही देखते थे, सीताजीकी सब सासुओंकी सेवा, चित्रकूटमें रघुनाथजीका क्षणमात्रमें सब पुरवासियोंसे मिलना, सब वानरोंसे किष्किन्धामें कुशल पूछना इत्यादि। फिर और भी श्रीसीताहरण-रहस्य, बालिवध-रहस्य, सीतात्याग-रहस्य, नागपाश-रहस्य, मायासीताहरण-रहस्य इत्यादि, अनेक प्रकारके रहस्य हैं।* विशेष १। १११। ३ में देखिये।

☞ २—प्रभुकी *'अति प्रसन्नता'* और 'रीझ' का चरितार्थ यहाँ है कि माँगा सो दिया और अपनी ओरसे बहुत कुछ देते चले जाते हैं—[रा० शं०—रीझके कारण *'प्रसाद'* पद दिया—'प्रसादस्तु प्रसन्नता'] †*'नहिं*

* १ पं०—'योग चरित्र रहस्य बिभागा'=योगके चरित्ररहस्य और विभाग चरित्र अर्थात् परकायाप्रवेशादिक। रहस्य=समाधि। विभाग अर्थात् पञ्चभूतोंकी धारणादिक शक्ति। २—रा० प्र०—योगचरित्र=योगचर्या वा योग और देवता-ऋषियों आदिके चरित्रोंके रहस्य, वेदशास्त्रके विभागोंका निर्णय।

† रा० शं०—इसी प्रकार श्रीजानकीजीने हनुमान्‌जीको वर दिया, यथा—'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत। सानुकूल कोसलपति रहहु समेत अनंत॥ अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥' भेद यह है कि रघुनाथजीने भक्ति माँगनेके कारण पहिले भक्ति दी तब गुण और श्रीहनुमान्‌जीने कुछ माँगा नहीं, श्रीजानकीजी उनकी रुचि देखते-देखते उत्तमोत्तम वर देती गयीं।

साधन खेदा' ऐसा ही लोमशवचन है। यथा—*'बिनु श्रम तुम्ह सब जानब सोऊ।'* (११४। ३) वही भाव यहाँ है। बिना किसी साधनके स्वतः इनकी जानकारी हो जायगी।

रा० शं०—रामजीने जो वर दिया वह उनको प्राप्त हो गया यह उनके ज्ञानदीपक, भक्तिनिरूपण, ज्ञान-भक्ति-भेद-निरूपणसे प्रकट है। *'ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥'* इस प्रसङ्गमें वरदानानुसार सबकी जानकारी सूचित कर दी, आगे रहस्य भी है, यथा—*'यह रहस्य रघुनाथ कर।'* साधन-खेद जो ज्ञानदीपकमें कहा है।

दो०—मायासंभव भ्रम सकल* अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥
मोहि भगत† प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥८५॥

अर्थ—मायासे उत्पन्न सभी भ्रम अब तुझको न व्यापेंगे। मुझे अनादि, अजन्मा, मायिक गुणोंसे रहित और दिव्य गुणोंकी खानि ब्रह्म जानना।‡ हे काक! सुन। मुझे भक्त सदैव प्रिय है, ऐसा विचार कर तन, वचन और मनसे मेरे चरणोंमें अटल प्रेम करना॥ ८५॥

खर्रा—*'जानेसु ब्रह्म अनादि……'* अर्थात् यावत् परत्ववाचक शब्द हैं उन सबका वाच्य मुझको ही जानना।

नोट—१ *'मायासंभव भ्रम सकल'* इति। (क) *'सकल भ्रम'* अर्थात् परस्वरूपमें भ्रम, स्वस्वरूपमें भ्रम, प्रकृतिमें भ्रम, मनुष्य जानना, चरितमें भ्रम होना इत्यादि। सब भ्रम मायासे उत्पन्न होते हैं। (ख) *'अब न ब्यापिहहिं'* का भाव कि पूर्व तुमको व्यापे थे, यथा—*'भ्रम ते चकित राम मोहि देखा।'* (७९। ४) अब आजसे आगे न व्यापेंगे, यथा—*'तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥'* (८९। ३) ☞प्रभुने ऐसी ही कृपा श्रीनारदजी और श्रीकौसल्याजीपर की थी। नारदजीको मायाका बल दिखाकर उनका अभिमान छुड़ाकर उनपर कृपा की, यथा—*'अब न तुम्हहि माया नियराई।'* (१। १३८। ८) माताको ऐश्वर्य दिखाकर विराट्-दर्शन कराके फिर माया विगत कर दिया जैसा कि माताकी प्रार्थनासे स्पष्ट है, यथा—*'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि।'* (१। २०२)

२—*'जानेसु ब्रह्म अनादि अज……।'* (क) 'माया न व्यापेगी' यह कहकर फिर *'जानेसु ब्रह्म अनादि'* कहनेका भाव कि यदि मुझे ऐसा जानते रहोगे तो माया न व्यापेगी। प्रभुको ऐसा जाननेसे मोह और सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं। यथा—**'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥'** (गीता १०। ३) जो मुझे सब लोकोंका परम ईश्वर तथा जन्म और आदिरहित जानता है वह मोहविरहित भक्त सब पापोंसे मुक्त होता है। (माया-मोहरहित होनेपर भी यह ज्ञान सदा बना रहना चाहिये तभी भक्तिकी उत्पत्ति तथा वृद्धि एवं दृढ़ताके विरोधी पापोंका नाश होगा, यह बात श्लोकके **'असम्मूढः'** शब्दसे सूचित होती है। वैसे ही यहाँ *'माया संभव……ब्यापिहहिं'* कहकर तब प्रभुके स्वरूपका जानना कहा गया।) मोह और भ्रम पर्याय हैं। अतः *'माया संभव भ्रम'* कहकर *'जानेसु ब्रह्म……'* कहा। (ख) *'अनादि अज'* कहकर जनाया कि सादि अज भी होते हैं। मुक्तात्मा पुरुष भी अज हैं पर उनका अजत्व आदिवाला है। उनका सम्बन्ध त्याज्य अचेतन पदार्थोंके साथ पहलेसे था, इसलिये उनके अजत्वको आदिमत कहना योग्य ही है। अतएव *'अनादि अज'* कहकर सूचित किया कि मुझ

---

* सकल—रा० गु० द्वि०। पं०। का०। भा० दा०।

† भगति—का०।

‡ १ 'मायया तव बन्धो न भविष्यति कदाचन। आश्रमे तव माया न प्रभावं स्वं करिष्यति॥' (२६। ७१) 'हृदये मम रूपं च निवसिष्यति ते सदा।' (सत्य०) २ पं०—अर्थ—'भ्रम न व्यापेंगे जिससे तू मेरे यथार्थ रूपका वेत्ता होगा।'

ब्रह्मका अजत्व मुक्तात्माओंके अजत्वकी अपेक्षा विलक्षण है। *'अज'* से विकारी अचेतन वस्तुमात्रकी अपेक्षा और उस अचेतन (जड़) वस्तु समुदायसे लिप्त सांसारिक जीवोंकी अपेक्षा भगवान्‌की विजातीयता बतलायी गयी है। क्योंकि संसारी जीवोंका कर्मजनित अचेतन संसर्गरूप जन्म होता है। (ग) *'अगुन गुनाकर'* इति। अगुण जानना अर्थात् मेरा स्वरूप समस्त त्याज्य अवगुणोंका सर्वथा विरोधी है, उन हेय गुणोंका मुझमें होना सर्वथा असम्भव है। ऐसा सदा स्मरण रखना, गुणाकर जानना अर्थात् समस्त त्याज्य वस्तुओंके विरोधी असीम, अतिशय, असंख्य कल्याण गुणगण मुझमें निरन्तर विराजमान रहते हैं।—इन सभी विशेषणोंके और भाव पूर्व आ चुके हैं। (घ)—यहाँ *'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥——'* के अनुसार क्रमसे कहा। *'जानेसु ब्रह्म——'* यह जाननेपर *'मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि'* यह विश्वास और तब *'काय बचन——अनुराग'* यह प्रीति होगी।

३ *'मोहि भगत प्रिय——'* इति। (क) मुझे भक्त प्यारा है, यह कहकर *'काय बचन मन'* से अनुराग करना कहनेका भाव कि जो तन-मन-वचनसे मेरी भक्ति करता है वह भक्त मुझे सतत प्रिय है। भुशुण्डिजीकी तीनों प्रकारसे भक्ति पूर्व दिखायी जा चुकी है। तनसे कैंकर्यादि, वचनसे गुणगान, मनसे मानसपूजा। (ख)—*'अचल अनुराग'* अर्थात् कभी अनुराग घटने न पावे, यथा—*'चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥'* (२। २०५। ४)

तन-वचनकी भक्तिका विधान, यथा—*'मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं। श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं॥ रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं। नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं॥'* (वि० १०४)

मनकी भक्तिका विधान, यथा—*'पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं। स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥ परबस जानि हँस्यो इन्ह इंद्रिन्ह निज बस होइ न हँसैहौं। मन मधुकर पन कर तुलसी रघुपतिपदकमल बसैहौं॥'* (वि० १०५)

☞ मिलान कीजिये—**'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥'** (गीता ९। ३४) (अर्थात् तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार मनको लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।) इस श्लोकके **'मन्मना भव'**, **'मद्भक्तो भव'**; **'मद्याजी मां नमस्कुरु'**, **'युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः'** का भाव यहाँके *'मोहि भगत प्रिय——कायबचन मन——अचल अनुराग'* इस वाक्यमें है। *'मोहि भगत प्रिय——अस बिचारि'* में यही भाव है कि भक्त मुझे प्रिय है ऐसा विचार करनेसे सदा तुम हमारे भक्त बने रहोगे। इसमें **'मद्भक्तो भव'** का भाव आ गया। **'मद्याजी मां नमस्कुरु'** आदि इसीका विस्तार है। *'मन मम पद करेसु अनुराग'* में **'मन्मना भव'** का भाव है। अर्थात् मेरे अतिशय प्रेमसे युक्त होकर मुझमें तैलधारावत् अविच्छिन्न भावसे मन लगानेवाला हो। निरन्तर मेरा परम प्रिय धारावाहिक चिन्तन करता रह। *'काय बचन अचल अनुराग'* में **'मद्याजी मां नमस्कुरु'** तथा **'मत्परायण'** का भी भाव है। अर्थात् मुझको ही परम आराध्यदेव, सबका कर्ता और प्राप्त होने योग्य समझता रहकर परिपूर्ण अधीनताके भावमें सर्वथा रत होकर मुझमें इस प्रकार लगा रहे कि मेरे बिना जीवन धारण करना असम्भव जान पड़े। *'मन'* को अन्तमें कहकर जनाया कि 'कर्म और वचन भी मनसे हों।'

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥ १॥
निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥ २॥
मम माया संभव संसारा*। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥ ३॥

---

* 'परिवारा'—(का०)। काम-क्रोध-लोभ इत्यादि मायाका परिवार कहा गया है, यथा—'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥' यहाँ परिवारसे प्रयोजन नहीं है, केवल मायिक संसारके चर-अचर जीवोंके वर्णनसे प्रयोजन है। अतः 'संसार' उत्तम पाठ है।

शब्दार्थ—**सिद्धांत**=भलीभाँति सोच-विचारकर स्थिर किया हुआ मत, जिसके सदा सत्य होनेका निश्चय मनमें हो।=निर्णय।

अर्थ—अब मेरी परम निर्मल वाणी सुन जो सत्य है, सुगम है और वेदादिने बखान की है॥ १॥ मैं तुझे अपना खास सिद्धान्त सुनाता हूँ, सुनकर मनमें धारण कर और सब छोड़कर मेरा भजन कर॥ २॥ मेरी मायासे उत्पन्न संसारमें अनेक प्रकारके चर और अचर जीव हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) यहाँतक प्रभुकी वाणीको तीन प्रकारके विशेषण दिये गये। (१)—'***बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास।***' (८३), (२) '***बोले बचन परम सुखदायक।***' (८५। १), (३) '***अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥***' प्रथम दो भुशुण्डिजीके और तीसरा स्वयं प्रभुका वाक्य है। (ख)—'***परम बिमल***' इति। वाणी समल, विमल और परम विमल तीन प्रकारकी होती है। इस प्रसंगमें तीनों दिखाते हैं। पहले '***बचन सुखद गंभीर***' ये समल हैं क्योंकि इसमें ऋद्धि-सिद्धि मोक्षादिका देना कहा है। दूसरी '***परम सुखदायक***' विमल है क्योंकि इसमें ज्ञानादिसहित भक्तिका वरदान है। तीसरी '***परम बिमल***' है, क्योंकि इसमें प्रभुने अपना '***निज सिद्धांत***' कहा है।

पं०—'***परम बिमल***—' सुननेमें सुगम, '***निगमादि बखानी***' अर्थात् वेदसम्मत है। वा, सत्यादि सब '***परम बिमल बानी***' के विशेषण हैं। वह कैसी विमल वाणी है? सत्य है, उसमें झूठरूपी मल नहीं है, सुगम है, उसमें कठिनतारूपी मल नहीं है। निगमोक्ति है, वेदविरुद्धरूपी मल नहीं है।

पं० रा० व० श०—अबतक जो कहा गया उसमें ऋषियोंका सिद्धान्त भी मिला-जुला है; अब '***निज सिद्धांत***' कहते हैं, अतः '***परम बिमल***' कहा।

नोट—२ '***सब तजि***' अर्थात् लौकिक-पारलौकिक सब धर्मोंका, शास्त्रोक्त ईश्वरप्राप्तिके उपाय, अहिंसा, सत्य, मातृ-पितृ-सेवा, यज्ञ-याग, दान, संन्यास इत्यादि मोक्षके अनेक साधनों, सब आशा-भरोसा, सुत-कलत्र, घर-परिवार सांसारिक मायाजालकी ममता, काम-क्रोध-मदादि विकारों इत्यादिको त्यागकर। यही चरम उपदेश गीताका भी है—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' (गीता १८। ६६) भाव यह है कि मुझको ही प्राप्त होनेयोग्य तथा मेरी प्राप्तिका उपाय भी मुझको ही समझ। ऐसा विश्वास होनेसे अन्य समस्त धर्मोंका त्याग सहज ही हो जायगा। सबका त्याग होनेपर फिर एकमात्र प्रभुका भजन हो सकेगा। '***सब तजि***' कहा क्योंकि प्रभुके अतिरिक्त जो कुछ भी कर्म-धर्म हैं वे सब भक्तिके बाधक हैं। श्रीसुग्रीवजीके वचनोंमें भी यही भाव है। यथा—'***सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ए सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥***—***अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥***' (४। ७। १६—१८, २१)

३ '***मम माया संभव संसारा***—' इति। यथा—'***एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥***' (३। १५। ६), '***सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥***' (५। २१। ४) '***ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥***' (३। १३) '***लवनिमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥***' (१। २२५। ४) इन उद्धरणोंसे '***मम माया***—' का भाव यह निकला कि माया जो संसारको रचती है वह मेरी माया है, मेरे अधीन है, मेरी आज्ञा होनेपर ही वह ब्रह्माण्ड-के-ब्रह्माण्ड रच डालती है। '***मम***' से अन्य देवता आदिकी मायाका निराकरण किया।

४ '***जीव चराचर बिबिध प्रकारा***' अर्थात् पाषाणादि अचेतन, वृक्षादि जीव, श्वास लेनेवाले जंगम प्राणी, मनयुक्त जंगम प्राणी, इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे युक्त, स्पर्शका ज्ञान रखनेवाले प्राणी, रसज्ञ प्राणी, गन्धवित् प्राणी, शब्दका ज्ञान रखनेवाले प्राणी, रूप-भेदका ज्ञान रखनेवाले प्राणी, दोनों ओर दाँतवाले प्राणी, बहुपाद प्राणी, चतुष्पाद, द्विपाद प्राणी इत्यादि विविध प्रकारके चराचर जीव हैं जो चौरासी लक्ष योनियोंमें हैं। (भा० ३। २९। २८—३०) में जो कहा है वह सब इस चरणसे जना दिया। श्लोक (चौ० ४) में देखिये।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥ ४॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महुँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥ ५॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥ ६॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा*॥ ७॥

शब्दार्थ—ज्ञानी=तत्त्वदर्शी। बिज्ञानी=अनुभवयुक्त अपरोक्ष तत्त्वदर्शी।

अर्थ—वे सब मुझे प्रिय हैं (क्योंकि) सब मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। (पर इन) सबमें मुझे मनुष्य विशेष अच्छे लगते हैं॥ ४॥ मनुष्योंमें भी द्विज, द्विजोंमें भी वेदोंके धारण करनेवाले (अर्थात् जिनको वेद कंठ हैं, जो वेदज्ञ हैं), इनमेंसे भी वेदधर्मपर चलनेवाले॥ ५॥ फिर इनमेंसे भी वैराग्यवान् (अधिक) प्रिय हैं और फिर ज्ञानी उससे भी अधिक प्रिय हैं।) ज्ञानीसे भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी है॥ ६॥ और इनसे भी (अधिक) प्रिय मुझे अपना 'निजदास' है जिसे मेरी ही गति है, दूसरेकी आशा नहीं है॥ ७॥

नोट—१ '*सब मम प्रिय सब मम उपजाए।*......' इति। ऊपर चौ० ३ में '*मम माया संभव*' कहकर यहाँ '*सब मम उपजाए*' कहनेका भाव कि मेरी आज्ञासे मेरा बल पाकर माया संसारको रचती है। अतः वह मेरे ही उत्पन्न किये हुए हैं। मैंने मायाद्वारा उनको उत्पन्न किया। जगत्‌का कर्ता वस्तुतः मैं ही हूँ, मायासंसार कारण-सामग्रीमात्र है। वह तो जड़ है। गीतामें जो कहा है कि '**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥**' (१४। ४) उसके '**सर्वयोनिषु ब्रह्म महत्**' का भाव '*मम माया संभव संसारा।*' में है और '*सब मम उपजाए*' में '**अहं बीजप्रदः पिता**' का भाव है। तात्पर्य यह है कि देव, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त योनियोंमें जो शरीराकार अलग-अलग अंगोंके अवयवोंकी रचनायुक्त व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनका कारण महद्‌ब्रह्म है। अर्थात् मैंने जिसका चेतनवर्गके साथ संयोग किया है, ऐसी महत्तत्त्वसे लेकर विशेषों (दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय) तक अवस्थावाली प्रकृति इनका कारण है। मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ। अर्थात् मैं उनके कर्मोंके अनुरूप चेतनवर्गका उस-उस योनिमें जड़ प्रकृतिके साथ संयोग करनेवाला हूँ। बीज प्रदान करनेवालेके ही पुत्र आदि कहे जाते हैं। अतः '*मम उपजाए*' कहना ठीक ही है।

श्वेताश्वतर-उप० के '**यो योनिमधितिष्ठत्येकः।**' (४। ११) में भी यही कहा है। (अर्थात्) जो अकेले ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता ही रहा है। भाव यह कि 'जगत्‌में जितने भी प्रकारके कारण माने जाते हैं उन सबके अधिष्ठाता हैं।' उनमें किसी कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति उन्हीं अशेष कारण परम परमात्माकी है और उन्हींकी अध्यक्षतामें वे उन-उन कार्योंको उत्पन्न करते हैं। वे ही उनकी यथायोग्य व्यवस्था करते हैं। आगे फिर श्रुति भगवती कहती है—'**यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम्**' अर्थात् जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें लीन हो जाता है; सृष्टिकालमें विविधरूपोंमें प्रकट भी हो जाता है।

भगवान् श्रीरामने जो यहाँ कहा है वही आगे फिर कहा है। यथा—'*अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥*' (८७। ७) सब अपनी ही संतान हैं, अतः सब प्रिय हैं और सबपर बराबर दया हुआ ही चाहे।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि '*मम प्रिय*' और '*मोहि बराबरि दाया*' से जनाया कि मैं जीवोंके शुभचिन्तनमें सदा रहता हूँ (कब यह मुझे पुकारे और मैं इसे गोदमें ले लूँ, इत्यादि)। जब सब प्रिय हैं और सबपर समान दया है तब '*सब ते अधिक*' '*तिन्ह महँ*' इत्यादि शब्दोंसे अधिकारीका तारतम्य कैसे कहते हैं? समाधान यह है कि कर्मकी स्वतन्त्र शक्ति जीवको है (जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है)। उसके अनुरोधसे प्रियत्वमें तारतम्य है। और प्रभु तो सबको कर्मोंके अनुरूप फलदाता हैं। कर्मानुसार समान भावसे सबका संचालन करते हैं।

* १ 'भक्ति मोरि नहिं दूसरि आसा'—(का०) २ यहाँ सार अलङ्कार है।

☞ *'सब मम प्रिय'* में गीताके **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥'** (९। २९) का भाव है। भाव यह है कि जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं, तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा सम भाव है। 'यह प्राणी-जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है। अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है, तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा अमुक प्राणी-जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है।

और, अधिकारीके तारतम्यमें श्लोकके उत्तरार्ध **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** तथा (श्लोक ३०। ३१, ३२) का भाव है। भाव यह है कि मुझमें जिनका चित्त लगा है, जो मेरे भजनको ही एकमात्र प्रयोजन समझकर मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों चाहे निकृष्ट; वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें ही वर्तते हैं और मैं भी मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्यके आधारपर) अभिप्राय यह है कि मैं अग्निके समान हूँ। जैसे अग्नि अपनेसे दूर रहनेवाले प्राणियोंके शीतका निवारण नहीं करता, पास आनेवालोंका ही करता है, वैसे ही मैं भक्तोंपर अनुग्रह किया करता हूँ। इतनेसे यह न समझ लेना चाहिये कि दूसरोंमें मेरा द्वेष है। ८६ (१०) में भी देखिये।

नोट—२ *'सब मम प्रिय······दूसरि आसा'* इति। (भा० ३। २९) में श्रीकपिलभगवान्‌ने माताको इसी प्रकार उपदेश दिया है—**'जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे। ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥' तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः। तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥ रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः। तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात्॥ ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः। ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥ अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत्। मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः॥ तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियाऽर्थात्मा निरन्तरः। मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः। न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्॥'** (२८—३३)—अचेतनसे सचेतन श्रेष्ठ है, उनमेंसे जिनके श्वासका सञ्चार होता है वे श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियोंमेंसे ज्ञान जिनको है वे, और इनमेंसे स्पर्शेन्द्रियके ज्ञानवाले वृक्षादि, इनसे रसके ज्ञानवाले, इनसे गन्धके ज्ञानी भ्रमरादि, इनसे सर्पादि शब्दके ज्ञाता श्रेष्ठ हैं। उनसे रूपके भेदके ज्ञाता काकादि, इनसे वे जिनके मुखमें ऊपर-नीचे दोनों जगह दाँत हैं, इनसे बहुत पैरवाले, इनसे चार पैरवाले और इनसे भी दो पैरवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्योंमें चार वर्ण, उनमेंसे ब्राह्मण, इन ब्राह्मणोंमें भी वेदज्ञ, वेदज्ञसे वेदार्थज्ञ, इनसे संशय दूर करनेवाला मीमांसक ब्राह्मण, इनसे अपने धर्म-कर्ममें निष्ठ ब्राह्मण और इनमें मुक्तसंग निष्काम भावसे धर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। क्योंकि वह सब फल और शरीरको अर्पण कर देता है।

३ उपर्युक्त श्लोकों २८, २९, ३० में *'सब'* और *'सब तें अधिक मनुज'* का भाव है। उनमें मानो इस चरणकी विस्तृत व्याख्या है। मानसमें भगवान् *'मम प्रिय'*, *'भाए'* आदि शब्दोंका प्रयोग कर रहे हैं, पर श्रीमद्भागवतमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठतामात्र कही है, प्रियत्व नहीं।

'मनुज' शब्दमें ही **'वर्णाश्च चत्वारः'** का भाव आ गया। क्योंकि इन्हींमें वर्णविभाग होता है। *'तिन्ह महँ द्विज'*, *'द्विज महँ श्रुतिधारी'* में 'तेषां ब्राह्मण उत्तमः।' **'ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः।'**(३१) **'अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता'** का समावेश है। *'तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी'* ही 'ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत्' है। *'तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी'* की जगह 'मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः।'(३२) को ले सकते हैं क्योंकि ज्ञानी ही निष्काम भावसे आसक्तिरहित होकर सब धर्म करता है। *'ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी'* का स्पष्ट जोड़ श्लोकोंमें नहीं है। *'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा······'* ही भागवतका **'तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियाऽर्थात्मा निरन्तरः। मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।'** है।

प० प० प्र०—यहाँ ज्ञानी=व्यतिरेक ज्ञानवान्, अहं ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूतिवाले। विज्ञानी=अन्वय ज्ञानवाले, जिनको **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** का नित्य साक्षात्कार होता है, इन्हींको अरण्यकाण्डमें ***'ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं'*** कहा है। (५४ । ३—५) जिन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त 'ज्ञानवंत' कहा है वही यहाँ *'ज्ञानी'* शब्दसे कहा है और ब्रह्मलीनको ही विज्ञानी कहा है। ब्रह्मलीन विज्ञानी भी भक्तिकी याचना करते हैं यह आगे ११६ (८) में कहा है। मानस तथा भागवतमें ज्ञान, विज्ञानके बाद ही प्रेमा भक्तिकी प्राप्ति और दुर्लभता कही गयी है।

नोट—४ *'तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा—'* इति। (क) *'निज दासा'* (निज सेवक) शब्द पूर्व भी कई बार आ चुके हैं। यथा—*'निज दास ज्यों रघुबंस भूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्यो।'* (दो० २ छंद), *'सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥'* (३। १०। ५), *'देखि दसा निज जन मन भाए।'* (३। १०। १६), *'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥'* (१। १४५) इत्यादि। श्रीमनु-शतरूपाजी, श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीभरतजी निज दास हैं। जैसे उन प्रसंगोंमें *'निज दास'* का अर्थ भी वहीं *'गति अनन्य'*, *'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥'* (३। १०। २) इत्यादि शब्दोंमें स्पष्ट कर दिया है, वैसे ही यहाँ भी *'निज दासा'* का अर्थ *'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा'* इस चरणसे कर दिया। अनन्य गति सेवक ही निज दास है। और अनन्यगति सेवक प्रभुको प्रिय है ही। यथा—*'एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'* (३। १०। ८) (ख) *'जेहि गति मोरि'*, यथा—*'—तुम्ह लगि मेरी दौर। जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर'* *'सिय-राम-स्वरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जल है। श्रुति रामकथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहि को थल है॥ मति रामहि सो गति रामहि सो रति रामसों रामहि को बल है।'* (क० ७। ३७) *'न दूसरि आसा'* यथा—*'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥'* (दो० २७७), *'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। रामरूप स्वाती जलद चातक तुलसीदास॥'* (वै० सं० १५)

पं० रामकुमारजी—*'सब मम प्रिय'* से *'दूसरि आसा'* तक अधिकारीके तारतम्यसे सिद्धान्त किया कि जितने भी साधन हैं उन सबोंमें भक्ति ही परसाधन है। इस तरह प्रभु इस सिद्धान्तसे मायाका कर्तृत्ववाद, ईश्वरका 'सीक्षा' (साक्षी? निरपेक्षता) वाद, अन्तर्यामीका प्रेरकवाद, ज्ञानका परसाधनत्ववाद आप-से-आप ही खण्डित हो गये।

पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥ ८॥
भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु* सम प्रिय मोहि सोई॥ ९॥
भगतिवंत अति नीचौ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ १०॥

अर्थ—मैं तुझसे बार-बार सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवकके समान कोई भी प्रिय नहीं है॥ ८॥ भक्तिरहित ब्रह्मा ही क्यों न हो वह भी मुझे सब जीवोंके ही समान प्रिय है॥ ९॥ भक्तिमान् अत्यन्त नीच भी प्राणी (क्यों न हो वह) मुझे प्राणप्रिय है—ऐसी मेरी *'बानि'* (टेव, स्वभाव, बाना एवं वाणी) है†॥ १०॥

नोट—१ *'पुनि पुनि सत्य कहौं'* इति। (क) यहाँतक तीन बार सेवक (भक्त) का प्रिय होना कहा, यथा—*'मोहि भगत प्रिय संतत'*, *'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।—'* और *'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।'* और, आगे फिर भी कहते हैं—*'मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी'*, *'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।'* अतः *'पुनि पुनि'* पद दिया। (ख) यहाँ तीन बार *'सत्य'* शब्दका प्रयोग किया है। यथा—*'अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम—'* *'पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं'* और

* जीवन (का०, पं०)।

† 'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब सम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना॥......मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'

'सत्य कहउँ खग तोहि।' अर्थात् आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें वाणीको *'सत्य'* विशेषण दिया है। अतः कहा कि *'पुनि पुनि सत्य कहौं।'* (ग) ज्ञानी और विज्ञानीसे भी *'निज दास'* प्रिय है, यह कहनेसे अर्थवाद समझा जानेका संदेह है अर्थात् यह न समझ लें कि भक्ति करनेकी उत्तेजना दिलानेके लिये ऐसा कहा गया; इस कारण वचनकी सत्यतामें दृढ़ अविचल विश्वास करानेके लिये *'पुनि पुनि'* और *'सत्य'* कहा, यथा—*'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥ पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना।'* (१। १५२। ५-६) [भाव कि मैं कुछ तुम्हारी खातिरीके लिये नहीं कहता--(रा० प्र०) सिद्धान्त कहता हूँ।]

२—*'भगतिहीन बिरंचि—सब जीवहु सम'* का भाव कि जो कोई भी मुझे अति प्रिय है वह भक्तिसे ही। विरंचिसे जनाया कि आदिसृष्टिके रचयिता ब्रह्मा भी मुझे भक्तिसे ही अति प्रिय हैं। ऐसे विरंचि जगत्‌के रचयिता होते हुए भी यदि मेरी भक्तिसे रहित हों तो वह भी मुझे मेरे भक्तसे कम प्रिय होंगे, तब अन्य साधारण भक्तिरहित जीवोंकी बात ही क्या?

'अति नीचौ' इति। (क) अर्थात् अन्त्यज, चाण्डाल, श्वपचादि भी क्यों न हों। भक्त होनेसे वर्णाश्रममें वह नीच भले ही माना जाय पर भगवान्‌की वा परमार्थदृष्टिमें वह उच्च वर्णोंसे अधिक प्रिय है। क्योंकि वह प्रभुका गोतिया हो जाता है। उसका गोत्र अच्युतगोत्र होता है।—*'साहिब को गोत गोत होत है गुलाम को।'* अपने गोत्रवाला सबको प्रिय होता ही है। दोहा ८७ में भी देखिये। पुनः, (ख) भाव कि ये मुझे प्राणप्रिय हैं तब जो कुलीन सज्जन हमारी भक्तिसे युक्त होंगे उनके प्रियत्वका कहना ही क्या! यथा—**'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।'** (गीता० ९। ३३), **'ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः। यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥'** (भा० २। ७। ४६) अर्थात् अधिक क्या कहा जाय! यदि स्त्री, शूद्र, हूण, शबर आदि नीच पापी जीव तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनिमें जन्म लेनेवाले भी भक्तोंके स्वभावानुसार चलें तो भगवान्‌की मायाको जान तथा उससे तर सकते हैं तब वेदपरायण महात्माओंका तो कहना ही क्या!

श्रीप्रह्लादजीने जो दैत्यबालकोंसे कहा है—'**नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥' न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥'** (भा० ७। ७। ५१-५२) (अर्थात् भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें ब्राह्मणत्व, दैवत्व, ऋषित्व, सदाचारबहुज्ञता अथवा दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रत आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं। वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं और सब विडम्बनामात्र हैं)—यह सब भाव भी इन चरणोंमें है।

प० पु० उत्तर खण्डमें भी कहा है कि भक्तिहीन होकर चारों वेदोंके पढ़नेसे ही क्या लाभ! भक्तियुक्त चाण्डाल ही क्यों न हो, वह देवताओंद्वारा भी पूजित होता है। यथा—'**भक्तिहीनैश्चतुर्वेदैः पठितैः किं प्रयोजनम्। श्वपचो भक्तियुक्तस्तु त्रिदशैरपि पूज्यते॥'** (१२८। १०२)

वै० सं० में भी कहा है—*'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥ ३८॥ अति ऊँचे भूधरनि पर भुजंगन के अस्थान। तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान॥ ३९॥ अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥ तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब लोई॥ ४०॥ जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥ यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि में जरै॥ ४१॥'*

वै०—१ *'अति नीचउ'*—'ज्ञान-योग-तपादि कुछ भी क्रिया न हो, देह भी नीच हो।'

३—एक तरफ तो कहते हैं कि *'सब मम प्रिय सब मम उपजाये'* और पूर्व भी कहा गया है कि *'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।—'* अर्थात् कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नहीं है। गीता (९। २९) में भी ऐसा ही है—'**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'** फिर यह कहते हैं कि भक्तिवन्त मुझे प्राणप्रिय है। देखनेमें यह विरोध प्रतीत होता है। श्रीबालगङ्गाधर तिलकजी लिखते हैं कि 'यह विरोध प्रतीत होता है सही, पर यह जान लेनेसे कोई विरोध नहीं रह जाता कि एक वर्णन सगुण उपासनाका

है और दूसरा अध्यात्मदृष्टि अथवा कर्मविपाक दृष्टिसे किया गया है। विशेष ८६ (४) में लिखा जा चुका है, वहीं देखिये।

४—*'प्राणप्रिय'* कहनेका भाव कि मैं उसमें और वह मुझमें रहता है। वह मुझसे पृथक् कभी नहीं होता, यथा—**'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।'** (गीता ९। २९) प्राणसे अधिक कुछ प्रिय नहीं होता, यथा—***'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं'*** अतः प्राणप्रिय कहकर सर्वोपरि प्रियत्व जनाया।

वि० त्रि०—*'भगतिवंत……बानी'* इति। भाव यह है कि उस ऊँचाईको लेकर क्या करना है, यदि उससे भगवान्‌का अनुग्रह न हुआ। अतः सरकारी सिद्धान्त यही है कि **'यो मे भक्तः स मे प्रियः।'**

दो०—सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥ ८६॥

अर्थ—पवित्र, सुशील और उत्तम बुद्धिवाला सेवक कहो किसको प्यारा नहीं लगा? अर्थात् सभी स्वामियोंको ऐसा सेवक प्रिय लगता है। हे काक! सावधान होकर सुन, वेद-पुराण ऐसी नीति कहते हैं॥ ८६॥

खर्रा—अलौकिक कहकर अब लौकिक पूछते हैं—**'कहु'**।

नोट—१ **'सुचि'**=स्वप्नमें भी भागवत-धर्ममें न डिगनेवाले, यथा—***'अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥'*** (२। १८६। ६), ***'देखी जनक भीर भइ भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥'*** (१। २४०। ७)

शुचिता तीन प्रकारकी होती है—मन, वचन और तन वा कर्मकी। मनकी शुचिता यह कि स्वप्नमें भी दूसरे देव एवं किसीका भी भरोसा न हो, जैसे सुतीक्ष्णजीके विषयमें कहा है ***'सपनेहु आन भरोस न देवक……'***, औरकी क्या कही स्वयं भगवान्‌के दूसरे रूपको भी वे न सह सके, भगवान्‌का ही चतुर्भुज रूप उनके हृदयको शान्ति न दे सका।

वचनकी पवित्रता यह कि प्रभुका गुणानुवाद छोड़ कोई वचन मुँहसे न निकले। वाणीसे दूसरेकी स्तुति या दूसरेसे याचना न करे। और तन वा कर्मकी शुचिता यह कि तनसे भगवत्-भागवत धर्म छोड़ दूसरे धर्मको धर्म न समझे और न करे, यथा—***'सपनेहु जान न दूसर धर्मा।'*** उत्तम पतिव्रताकी तरह मन, वचन और कर्मसे प्रभुकी भक्ति करनेवाला ही ***'सुचि'*** विशेषणसे जनाया। ☞आगे प्रभु स्वयं ***'सुचि सेवक'*** के लक्षण कहते हैं—मद-माया-कपट छोड़कर मन, कर्म, वचनसे सर्वभावसे भक्ति करनेवाला ***'सुचि सेवक'*** है। यथा—***'तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥—सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय॥ ८७॥'***

पं०—**सुचि**=सदाचारसंयुक्त। **सुसील**=वह जिसपर कोई अप्रसन्न न हो। **सुमति**=परमार्थ बुद्धिवाला।

रा० प्र०—***'सुचि'*** यह कि स्वामीकी वस्तुसे निर्लोभ हो, सुशील अर्थात् ढीठ न हो और ***'सुमति'*** से समयसाधक जनाया।

नोट—२ ☞ ये तीनों गुण सेवकमें हों तभी वह प्रिय हो सकता है। इससे जनाया कि ये तीनों गुण तुममें हैं, यथा—***'सुचि सेवक***—१ ***'देखि दीन निज दास।'*** (८३), ***'तोहि निज भगत राम कर जानी।'*** (११३। १२), ***'यह मम भगत कर्म मन बानी।'*** (११४। ६)

सुसील—२ ***'तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला।'*** (६२। २), ***'रिषि मम महत सीलता देखी।'***

सुमति—३ ***'मति अकुंठ हरिभगति अखंडी।'*** (६३। १)

☞ यह भी सुझा रहे हैं कि जो छल छोड़कर हमारा अनन्य सेवक हो जाता है, उसीको सर्वगुणसम्पन्न समझ लेता हूँ। यथा—***'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसीलसिरोमनि स्वै। सतिभायँ सदा छल छाड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै॥'*** (क० उ० ३४)

३—इस ग्रन्थमें लोक और वेद दोनों मत हैं, यथा—***'लोक बेद मत मंजुल कूला।'*** (बा०)। यहाँ

भी दोनों मतोंसे निज दासका प्रियत्व प्रतिपादन करते हैं। पूर्वार्द्धमें *'प्रिय कहु काहि न लाग'* यह लोकमत और *'श्रुति पुरान कह नीति असि'* यह वेदमत हुआ।

४ *'सावधान सुनु'* इति। सावधान करनेका भाव कि पूर्व प्रभु कह आये हैं कि यह मेरा *'निज सिद्धान्त'* है और परम विमल है इसे *'सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही'*, इसीसे सावधान करते जाते हैं क्योंकि अन्यथा धारण न हो सकेगा।

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥ १॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥ २॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि* प्रीति सम होई॥ ३॥

अर्थ—एक पिताके बहुत-से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव और आचरणवाले होते हैं॥ १॥ कोई पण्डित होता है, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूरवीर, कोई दानी॥ २॥ कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मपरायण होता है; पर सभीपर पिताका एक-सा प्रेम होता है॥ ३॥

नोट—१ *'एक पिता के बिपुल—'* इति। (क) ☞ श्रुति-पुराणमत कहकर अब लोकप्रमाण देते हैं। पृथक् गुण, शील, आचरण है, इसीसे कोई पण्डित, कोई तपस्वी इत्यादि हैं जो आगे कहते हैं। (ख) यहाँ दृष्टान्त दे रहे हैं; आगे दार्ष्टान्तमें भगवान् अपनी संतान बहुत बताते हैं—*'जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर'*, इसीसे यहाँ भी *'बिपुल'* कहा। (ग) यहाँ 'कुमार' को कहा, पर संतानमें कुमारी भी तो होती हैं। उनको न कहा। कारण कि कन्या 'अबला' है, वह पिताके आश्रित है और पुत्रोंको पुरुषार्थका बल होता है, इसीसे कोई पण्डित, कोई तपस्वी इत्यादि होते हैं।

वि० त्रि०—पहले *'सब मम प्रिय सब मम उपजाये'* कह आये हैं, उसी बातको लौकिक उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे एक पिताके बहुत-से लड़के होते हैं पर उनके गुण, शील और आचारमें विषमता होती है। इसी तरहसे पुरुष, नपुंसक, नारी-नर तथा सभी चराचर जीव, पृथक्-पृथक् गुण-कर्म-शील-स्वभाववाले सब एक परमेश्वरके पैदा किये हुए हैं, अतः सभी उनको प्रिय हैं। यहाँपर प्रश्न ही नहीं उठता कि कुमार कहा, कुमारी नहीं कहा। कुमार शब्द यहाँ संतानमात्रका उपलक्षण है। भाव यह है कि परमेश्वरको जीवमात्र प्रिय है क्योंकि सब उनकी संतान हैं।

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥ ४॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥ ५॥

अर्थ—कोई मन, वचन और कर्मसे पिताका भक्त होता है, स्वप्नमें भी दूसरा कोई धर्म नहीं जानता॥ ४॥ वह पुत्र पिताको प्राणसमान प्रिय होता है। यद्यपि वह सब प्रकारसे अज्ञान ही है॥ ५॥

वै०—१ मनसे पितामें रत, वचनसे पिताके अनुकूल, कर्म करके पिताकी सेवामें रहता इत्यादि मन-वचन-कर्मसे पितृभक्त कहा। पिताकी भक्तिको ही एकमात्र धर्म जानता है। २—यहाँ पिता ईश्वर है, बृहस्पति आदि पण्डित, प्रचेतादि तापस, सनकादि ज्ञाता, कुबेर धनवंत, दैत्य शूर, हरिश्चन्द्रादि दाता, लोमशादि सर्वज्ञ, शिवि-दधीचि आदि धर्मरत, ध्रुव-प्रह्लाद, अम्बरीषादि पितृभक्त हैं।

नोट—१ (क) *'कोउ पितु भगत—धर्मा'* इति। दृष्टान्तमें यहाँ जो गुण प्रभु कह रहे हैं, वे सब श्रीभुशुण्डिजीमें हैं। श्रीभुशुण्डिजी मन, कर्म, वचनसे प्रभुके भक्त हैं, यथा—*'यह मम भगत करम मन बानी'* (११४। ६), *'सपनेहु जान न दूसर धर्मा'* यह गुण भी इनमें है, यथा—*'भजनहीन सुख कवने काजा।'* (८३। ६), *'भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'* (८३। ५) (ख) *'सब भाँति अयाना'* कहकर पूर्व जो गुण औरोंमें कह आये उन सबसे रहित जनाया। अर्थात् न वह पण्डित है, न तपस्वी, न ज्ञानी, न धनी,

* प्रीति पितहि—(का०)।

न शूर, न दानी, न सर्वज्ञ, न धर्मात्मा। जिन्हें अपने पाण्डित्य, तप, ज्ञानादिका बल है वे पिताकी साधारण भक्ति करते हैं; क्योंकि शास्त्राज्ञा है और सर्वगुणहीन पुत्र पितृभक्तिको सर्वस्व मानकर एकमात्र यही धर्म करता है। [पुनः, *'यद्यपि सब भाँति अयाना'* का भाव कि पिता उसकी अज्ञानतासे खीझता नहीं। उसके अज्ञानपर ध्यान नहीं देता। (रा० प्र०) उसके अज्ञानको भी वह गुण ही मानता है, इसीसे यह जानकर कि इसकी हम ही गति हैं, वह उसे प्राणप्रिय होता है। जैसे श्रवण ऋषिने और किसी धर्मको धर्म न समझा, केवल मातृ-पितृ-भक्ति की। तभी तो उनके माता-पिताने उनके वियोगमें प्राण दे दिये। (रा० शं०)]

एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥ ६॥
अखिल बिस्व यह मोर* उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥ ७॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया॥ ८॥

शब्दार्थ—**त्रिजग**=तिर्यक्। मनुष्यको छोड़ पशु-पक्षी आदि जीव तिर्यक् कहलाते हैं; क्योंकि खड़े होनेमें उनके शरीरका विस्तार ऊपरकी ओर नहीं रहता, आड़ा होता है। इनका खाया हुआ अन्न सीधे ऊपरसे नीचेकी ओर नहीं जाता किन्तु आड़ा होकर पेटमें जाता है। तिर्यक्‌का अर्थ है 'टेढ़ा, तिरछा' इसीसे यह नाम पड़ा। —*'त्रिजग देव नर जोइ तनु धरऊँ। तहँ तहँ रामभजन अनुसरऊँ॥'* (११०। १) **उपाया**=उत्पन्न करना।

अर्थ—इस प्रकार तिर्यक्, देव, मनुष्य, असुरसमेत जितने भी जड़ और चेतन जीव हैं॥ ६॥ यह सारा विश्व मेरा पैदा किया हुआ है। सबपर मेरी बराबर एक-सी दया है॥ ७॥ पर इनमेंसे जो मुझे मद और माया छोड़कर मन, वचन और तनसे भजता है (वह)॥ ८॥

नोट—१ *'एहि बिधि'* कहकर चराचरमात्रके जीव, तिर्यक्, देव, नर, असुरसहित सारा विश्व सब पुत्र-समान जनाया। इस प्रकार अर्थात् जैसे अपने सब पुत्रोंमें समभाव रखते हुए भी 'पितृभक्त अज्ञानी पुत्र' पिताको अधिक प्रिय होता है वैसे ही दृष्टान्त-दार्ष्टान्तका मिलान—

एक पिताके बिपुल कुमारा; बिपुल होहिं पृथक गुन सील अचारा।	१ *अखिल बिस्व यह मोर उपाया।* देव, नर, असुर, चर, अचर समस्त जीव
	२ *जीव चराचर जेते, त्रिजग देव नर असुर*
'कोउ पंडित' से *'धर्मरत कोई'* तक	इन सबके पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव आचरण होते हैं
सब पर पितहि प्रीति सम होई	३ *सब पर मोहि बराबरि दाया*
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा	४ *तिन्ह महँ जो 'भजइ मोहि मन बच अरु काया'*
सपनेहु जान न दूसर धर्मा	५ *परिहरि मद माया* तथा *'आस भरोस सब'*
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना	६ *'मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी', 'मोहि परमप्रिय सोइ'*
जद्यपि सो सब भाँति अयाना	७ *'भक्तिवंत अति नीचौ प्रानी', 'चराचर कोइ……'*

२ *'अखिल बिस्व……दाया'*—८६ (३-४) देखिये। श्वे० (४। ९) में भी ऐसा ही कहा है। यथा—**'छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्……॥'** अर्थात् जो समस्त वेद मन्त्ररूप छन्द, यज्ञ, क्रतु (ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ), नाना प्रकारके व्रत, शुभ कर्म, सदाचार और उनके नियम हैं तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थ हैं जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, इस सम्पूर्ण विश्वको वे मायापति परमात्मा इस (पूर्व बताये हुए पञ्चभूतादि तत्त्वोंके समुदाय) से रचते हैं।

३ *'परिहरि मद माया'* कहकर जनाया कि पण्डिताई, तप, ज्ञान, धन, वीरता, दान, सर्वज्ञता और सांसारिक सब धर्मोंका अभिमान किञ्चित् न हो, यह सब माया है। पुनः, पाँच प्रकारके मद भक्तिके कण्टक कहे गये हैं—जाति, विद्या, महत्त्व, रूप, युवावस्था। अतः इन सबका त्याग करना कहा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मानादि सब मायाके परिवार हैं; इनका त्याग करना कहा, जो अरण्यकाण्डमें नारदजीसे कह आये हैं। ये सब भक्तिके बाधक हैं। पुनः ऊपर पण्डित, तपस्वी आदि आठ प्रकारके गुण कहे। आठ

* मम उपजाया-का०, रा० गु० द्वि०।

ही कहनेका भाव कि किसीका मत है कि मद अष्ट प्रकारके हैं। यहाँ *'मद'* का छोड़ना कहना था अतः यहाँ आठ गुण कहे। परलोक साधनमें मायाका त्याग परमावश्यक है, यथा—*'तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका॥'* (कि० २३। ५) माया, यथा—*'गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'* इन सबसे वैराग्य होना चाहिये।

दो०—पुरुष नपुंसक नारि* वा जीव चराचर कोइ।
सर्बभाव भज† कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सो०—सत्य कहौं‡ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥८७॥

अर्थ—पुरुष हो (चाहे) नपुंसक हो (चाहे) स्त्री हो वा चर-अचर कोई भी जीव हो (जो भी) कपट छोड़कर सर्वभावसे मुझे भजे वही मुझे परमप्रिय है। हे खग! मैं तुझसे सत्य कहता हूँ कि मुझे शुचि सेवक प्राणप्रिय है। ऐसा विचारकर सब आशा-भरोसा छोड़कर मुझे भज॥ ८७॥

खर्रा—१ पुरुषसे अधिकारी, नारीसे अर्द्ध-अधिकारिणी और नपुंसकसे अनधिकारी सूचित किया। २—सर्वभाव वात्सल्यादि।

नोट—१ *'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ'* इति। भाव कि शूद्र, स्त्री, अन्त्यज, पापी, नपुंसक इनको श्रौत यज्ञ, याग, वेद और ज्ञानका अधिकार नहीं है; पर मेरी भक्तिका अधिकार इन सबको भी है। भक्तिमें स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र एवं चाण्डाल-अन्त्यज पापयोनि-सम्बन्धी कोई भेद शेष नहीं रहता। भक्तिसे वे सब महात्मा हो जाते हैं।

गीतामें भी भक्तिमार्गकी विशेषता इसी प्रकार कही गयी है—**'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।—मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।'** (९। ३०—३२) अर्थात् बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो यदि वह मुझे अनन्य भावसे भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिये; क्योंकि उसकी बुद्धिका निश्चय अच्छा है। वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यजादि पापयोनि प्राणी भी परमगति पाते हैं।

नोट—२ *'सर्बभाव भज'* इति। अर्थात् (क) आप ही माता, पिता, बन्धु, सखा, विद्या, धन-सम्पत्ति, सर्वस्व सभी कुछ आप ही हैं। इन सब भावोंसे मेरा ही भजन करे। पुनः, (ख) *'तू दयालु, दीन हौं तू दानि, हौं भिखारी। हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज हारी। नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो? मों समान आरत नहिं आरतिहर तोसो॥ ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो। तात-मात, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो। तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जौ भावै। ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै॥'* (वि० ७९) इसमें ११ भाव कहे हैं। इत्यादि अनेक भाव हैं। पुनः यथा—*'या जगमें जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं समिटि इक ठाईं॥'* (वि० १०३) पुनः, (ग) **सर्बभाव**=अनन्य भावसे। यह बात गीता (९-३०) से सिद्ध होती है। गीता (१८-६२) में भी **'सर्वभावेन'** पद आया है। वहाँ जो भाव हैं वही यहाँ हैं। भगवान् कहते हैं कि **'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः', 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'** (९। १७-१८) **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥** (१८। ६१) **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां**

* नारि नर—(का०)।
† भगति भाव भजि—(का०)।
‡ कहौं—(का०)। भा० दा० में 'कहौं' के हौं पर हरताल है।

शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥' इन उद्धरणोंमें यही दिखलाया गया है कि परमेश्वरका और जगत्‌के समस्त प्राणियोंका सम्बन्ध माता, पिता, धाता (आधार; पालन-पोषण-कर्त्ता), पितामह इत्यादिका है। भगवान् ही हमारे एकमात्र प्राप्त करने योग्य पदार्थ, भरण-पोषणकर्त्ता, प्रभु अर्थात् सब प्रकारसे रक्षा करनेको समर्थ, हर्त्ता-कर्त्ताविधाता, हमारे शुभाशुभ कर्मोंके साक्षी, हम सब जीवोंके निवास अर्थात् आश्रयभूत, शरण, सर्वभूतोंसे अभय देनेवाले और एकमात्र स्वामी, गुरु, सुहृद्, सच्चे सखा वा मित्र हैं, वे ही हमारे परमभोग्य हैं, सब भावोंसे वे ही अनुभव करने योग्य हैं। वे कारणरहित कृपा करते हैं। यथा—'**माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्व मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥**' (और भी भाव पूर्व आ चुके हैं।)

'***भाव***' का अर्थ 'अवस्था', 'स्थिति' या 'वृत्ति' भी है। सांख्यशास्त्रमें 'बुद्धिभाव', 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है। गीतामें भी कहा गया है—'**अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥**' (१०। ५) वहाँ बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, सुख, दुःख, भव, अभव, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, दान, तप, यश, अपयश ये सब अनेक प्रकारके प्राणिमात्रके भाव कहे गये हैं।

करु०—१ '***सर्बभाव***' अर्थात् सब जीवोंमें मुझे व्याप्त देखे और उनमें भी गौ, ब्राह्मण, तीर्थ विषे मेरी प्रसन्नता अधिक माने। सम्पूर्ण देवताओंको मेरी सामान्य विशेष विभूति माने, मेरी प्रतिमा, मेरी लीला और जहाँ कहीं भी मेरा सम्बन्ध कोई प्राप्त हो तथा संतोंको मेरा स्वरूप माने। २—'***कपट***' इति। देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वर्णाश्रम, अन्त्यज, जाति, वर्णाश्रमके अभिमान मानते हैं सो त्याग दे।

नोट—३ 'पूर्व कहा कि अत्यन्त नीच प्राणी भी हमारा भक्त हो तो प्राणप्रिय है—८६ (१०) और यहाँ कहते हैं कि मद-माया छोड़कर, कपट छोड़कर सर्वभावसे भजन करनेवाला प्राणप्रिय है। इससे जनाया कि अत्यन्त नीच प्राणी भक्तियुक्त होनेसे धर्मात्मा हो जाता है, उसके नीच कर्म छूट जाते हैं और वह मायाका अन्त पा जाता है—(भा० २। ७। ४६। ८६ (१०) देखिये।) भक्तिवन्त होनेसे ही '***तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥***' ऐसा होनेपर वह प्राणप्रिय होता है।

'**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥**'

☞ यह चरम उपदेश है। यह प्रभुकी 'विमल-वाणी' का उपसंहार भक्तिप्रधान ही है। यहाँ बराबर '***मोहि***' शब्द देकर स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है। ८६ (१-२) भी देखिये।

उपक्रम (दोहा ८६)	उपसंहार (दोहा ८७-८८)
अब सुनु परम बिमल मम बानी	१ *प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ*
सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही	२ *अस बिचारि भजु मोहि परिहरि—*
मम माया संभव—सब मम उपजाये	३ *अखिल बिस्व यह मोर उपाया।*
'मोहि भगतप्रिय संतत', 'सुचि सुसील—'	४ *सुचि सेवक मम प्रानप्रिय*
अस बिचारि सुनु काग	५ *सत्य कहउँ खग तोहि। अस बिचारि*
काय बचन मन मम पद	६ *परिहरि आस भरोस सब*
करेसु अचल अनुराग	७ *'सुमिरेसु भजेसु निरंतर'*

४ '***परिहरि आस भरोस सब***' इति। (क) इससे जितनी प्रकारकी (श्रीरामसम्बन्धी छोड़ अन्य) सांसारिक एवं पारलौकिक आशाएँ और भरोसे हैं वे सब सूचित कर दिये। भाव यह कि किसी मनुष्य, देवता, ऋद्धि, सिद्धि, योग, यज्ञ, जप, तप, दानादि साधनोंका आशा-भरोसा न करके मेरी अनन्य निष्काम हेतुरहित भक्ति कर। यथा—'*यह बिनती रघुबीर गुसाईं। और आस बिस्वास भरोसो हरो जिय की जड़ताई॥ चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधिसिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग नाथ पद बढ़ो अनुदिन अधिकाई॥*' (वि० १०३)

(ख) 'आशा-भरोसा' छोड़नेको कहा क्योंकि ये भक्तिके बाधक हैं। 'आशा हि परमं दुःखम्', '*अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची।*' (वि० १६३) इससे नित्य नयी चिन्ता लगी रहती है जिससे ईश्वरमें विश्वास नहीं रह जाता, यथा—'*मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥*' (४६। ३) विश्वासहीन,

होनेसे भक्ति गयी, यथा—'*बिनु बिस्वास भगति नहिं।*' (९०) आशा-भरोसा छोड़नेपर ही भक्तकी शोभा है। यथा—'*बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥*' (४। १६। ९)

५—'*पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर*' का अर्थ बैजनाथजीने यह लिखा है कि—'चर-अचर दो भाँतिके जीव होते हैं। इनमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग ये तीनों लिङ्गके जीव हैं। इन तीनों प्रकारोंके पुरुष, नपुंसक और स्त्रीलिङ्गके चर-अचर जीवोंमेंसे चाहे नर (द्विभुजपदवाला) हो या (देव-दनुज, पक्षी-पशु इत्यादि) कोई अन्य जीव हो।' और, पांड़ेजी '*पुरुष नपुंसक नारि नर*' पाठका अर्थ करते हैं—'नारि-नरमें पुरुषत्वसहित हो या नपुंसक हो।' करु० और रा० प्र० '*नारि नर*' पाठ देकर 'नपुंसक' को 'पुरुष' का विशेषण मानते हैं।

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु* निरंतर मोही॥ १॥
प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ २॥
सो सुख जानै मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥ ३॥

अर्थ—तुझे काल कभी न व्यापेगा। मेरा निरन्तर स्मरण और भजन करना॥ १॥ प्रभुके वचनामृत सुनकर तृप्ति नहीं होती थी। शरीर रोमाञ्चित हो गया। मैं मनमें अत्यन्त हर्षित हो रहा था॥ २॥ वह सुख मन और कान ही जानते हैं। जिह्वासे उसका बखान नहीं हो सकता॥ ३॥

खर्रा—१ अनुग्रहके प्रवाहको रोक नहीं सकते, इसीसे फिर भी कहते हैं—'**कबहूँ**……'।

नोट—१ '*एवमस्तु कहि रघुकुल नायक। बोले बचन परम सुखदायक॥*' (८५। १) उपक्रम है और '*प्रभु बचनामृत सुनि*……' उपसंहार है।

२—'*कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही*' इति। आगे इस सम्बन्धमें गरुड़जी प्रश्न करेंगे। '*तासु नास कल्पांत न होई।*' (५७। १) में देखिये।

☞ 'ऐसा ही वरदान नारदजीको भगवान्‌ने दिया है। वहाँपर भगवान् कहते हैं कि मेरी कृपासे मुझमें तुम्हारी बुद्धि अचल रहेगी, कल्पान्तमें भी इस जन्मका स्मरण बना रहेगा—'**मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्। प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात्॥**' (भा० १। ६। २५) के इस उद्धरणसे तथा व्यासजीके (भा० १। ६। ४) के '**प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम। न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः॥**' इस प्रश्नसे कि 'कालसे कोई बच नहीं सकता, वह सबको भुला देता है, तुमको पूर्वजन्मका हाल कैसे याद रहा, तुम्हारी स्मृतिका व्यवधान कालने नहीं किया, यह क्यों? वह तो सबका निराकरण करता है'—'काल न व्यापेगा' का भाव यह हुआ कि कल्पान्त होनेपर तुम्हें बराबर पूर्व सब कल्पोंके जन्मका स्मरण बना रहेगा। यही बात आगे भुशुण्डिजी कहते हैं, यथा—'*सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी।*' (९६। १०) ब्रह्मानन्द-मंजरीमें † एक कथा इस सम्बन्धकी यों है—

वसिष्ठ उवाच—'हे भुशुण्डी! आप चिरंजीवी हैं, आपने अनेक प्रलय देखे हैं, आपका नाश महाप्रलयमें भी नहीं होता। यह कृपा करके समझाकर कहिये।'

भुशुण्डि उवाच—हे मुनि! आपको सब बात विदित है। परंतु आपकी आज्ञा है अतः जो हाल मेरे स्मरणमें है वह कहता हूँ। हे वसिष्ठजी! जिसने प्राणापानकी गतिको जाना है वह अजर-अमर-पदको प्राप्त होता है और मुझको तो रात-दिनका भास नहीं है इसीसे चिरंजीवी हूँ। जब प्रलयकाल आता है और तत्त्वोंका क्षोभ होता है, जब सूर्य तप्त होता है और अग्नितत्त्व बढ़ता है तब मैं जलकी धारणा करता हूँ और जब वायु बढ़ता है तब मैं पर्वतकी भावना करता हूँ। जब जलतत्त्व बढ़ता है तब मैं अग्निकी

* सुमिरि स्वरूप—(का०)। निरंतर स्वरूप—अपना आत्मारूप (रा० प्र०)।

† जन रघुनाथ श्रीचित्रगुप्तवंशज कानपुर गङ्गातट-निवासीकृत ब्रह्मानन्दमंजरी सन् १९१४ नवलकिशोर प्रेसके ज्ञानकाण्डभागमें वसिष्ठ-भुशुण्डि-संवादसे उद्धृत।

भावना करता हूँ और जब तत्त्वोंका नाश होता है तब मैं ब्रह्माण्ड खप्पड़के पार चला जाता हूँ। जब फिर सृष्टि उत्पन्न होती है तब मैं फिर इसी नीलगिरिके आलनेमें स्थित होता हूँ। ऐसे ही अनेक बार सृष्टि उत्पन्न और लय होती है।

जो मुझको स्मरण है वह आपसे कहता हूँ। जो अवतार विष्णुके हुए हैं वह श्रवण कीजिये। १२ अवतार कच्छपजीके हुए, ३ अवतार वराहजीके हिरण्याक्षसे पृथ्वीरक्षाके लिये और ३ नृसिंहजीके प्रह्लादकी रक्षाके लिये हुए, ६ अवतार परशुरामजीके हुए।……बहुत युगोंके बाद एक सृष्टि ऐसी हुई जो पूर्व सृष्टिके विपरीत थी, शास्त्र और तरहके और पुराणोंके अर्थ और तरहके थे। एक कल्पमें शास्त्रोंके पाठ और ही प्रकारके थे। युग-युग प्रति भिन्न-भिन्न पुराण होते हैं, कभी देवता करते कभी ऋषीश्वर, कभी मुनीश्वर, इतिहासकथा भी विचित्र-विचित्र कहते हैं। १२ बार वाल्मीकिजीने रामायण कही, दो बार व्यासजीने महाभारत कहा। दूसरे जीव नामक व्यासने सात बार महाभारत कहा। इस प्रकार नाना शास्त्रपुराण हुए। ११ अवतार विष्णुजीने दैत्योंके मारनेको रामावतार धारण किये और १६ अवतार श्रीकृष्णचन्द्रजीके हुए। एक बार सृष्टिमें तृण-ही-तृण हुए और वृक्ष, और कुछ न हुआ फिर सब अग्निसे जल गये। ११ हजार वर्ष भस्म ही दृष्टिगोचर होती रही। एक बार चन्द्र-सूर्य उत्पन्न न हुए, रात्रि-दिन न जान पड़े, सुमेरुके रत्नोंका प्रकाश रहता था। एक बार देवता-दैत्य-युद्धमें सब देवता मारे गये, केवल ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और दैत्य रह गये। २० युगोंतक दैत्य ही राज्य करते रहे। एक बार युगपर्यन्त पर्वत ही रहे और कोई सृष्टि न भासती थी। एक बार जल-ही-जल हो गया, केवल सुमेरु देख पड़ता था। एक बार देवता-दैत्य-मनुष्य कुछ भी न हुए। एक बार ब्राह्मण मद्यपान करते थे, शूद्र बड़े बन बैठे और जीवोंमें विपर्यय धर्म होते थे। एक बार पर्वत न हुए। एक बार सूर्य-चन्द्र लुप्त हो गये, विष्णुको गरुड़ न मिला, ब्रह्माको हंस न मिला, शिवको बैल न मिला—सब बिना वाहन ही रहे; फिर आप (वसिष्ठजी) उत्पन्न हुए और भरद्वाज, पुलस्त्य, नारद, इन्द्र, मरीचि इत्यादि हुए।……आपके ८ अवतार हुए, कभी जलसे, कभी आकाशसे, कभी पहाड़से, कभी पवनसे, कभी अग्निसे। प्रलय कल्पके बाद मैं इसी पर्वतके वृक्षपर रहता हूँ। परमात्माकी ऐसी ही नीति है, कोई उस नीतिका उल्लंघन नहीं कर सकता। (ब्रह्मानन्दमंजरी पृष्ठ १३६। १३८)।

करु०—'*सुमिरेसु भजेसु*……' इति। सुमिरन अर्थात् चित्तकी वृत्ति अखण्ड एकरस सर्वकालमें बनी रहे। भजन=सेवा। **सुमिरेसु भजेसु**=बाह्यान्तर-भागवत कैंकर्य प्रतिमामें और मानसीमें मन-वचन-कर्मसे लगा रहे। दोनों वस्तुतः एक ही हैं।

वि० त्रि०—'***कबहूँ काल……मोही***' इति। जीव तो नित्य है, वह कभी नहीं मरता, यथा—'***जीव नित्य तुम्ह केहि लगि रोवा।***' तब मृत्यु क्या है? इस प्रश्नका शास्त्र उत्तर देता है कि '**प्रमादो वै मृत्युः**' प्रमाद ही मृत्यु है। यदि प्रमाद न हो तो मृत्यु कोई वस्तु नहीं रह जाती। शरीरका परिवर्तन भी उसके लिये मृत्यु नहीं है, वह तो '***जिमि नूतन पट पहिरै नर परिहरै पुरान***' बस इतना ही रह जाता है। अतः निरन्तर स्मरण-भजन करनेवालेको मृत्यु कहाँ। यहाँ सरकारने प्राणिमात्रके लिये मृत्युसे बचनेका उपाय बतला दिया।

रा० शं० श०—'***कबहूँ काल न ब्यापिहि***' इसका प्रमाण श्रीजानकीजी हैं—'***नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥***' (५। ३०) 'निरन्तर', यथा—'***अति अनन्य जे हरिके दासा। रटहिं नाम निसिदिन प्रति स्वासा॥***' (वै० सं०)

रा० प्र० १—'***न अघाऊँ।***' अमृतके दो गुण तोष-स्वाद (माधुरी) और मरणभयवर्जित हैं, पर प्रभुके वचनामृतसे तोष नहीं होता, जी अघाता नहीं। २—'***मन अति हरषाऊँ।***' मन जो एक कालावच्छिन्न कई इन्द्रियोंका धर्म एक साथ ले सकता है सो पहले ही लीन हो गया।

नोट—३ (क) '***सो सुख जानै मन अरु काना।***' मनमें वचन सुनकर आनन्दका अनुभव हुआ, उसका स्वाद मिला और कानोंने सुना; अतः श्रवणका सुख और जो आनन्द मनको हुआ वह यही दो

यथार्थ जानते हैं, वर्णन करना इनका विषय नहीं है, वर्णन तो जिह्वासे ही होता है पर इनके जिह्वा है नहीं, अतः ये जानते हैं किंतु कहें कैसे? रसनाका विषय दर्शन या श्रवण नहीं है, अतः जब उसने सुना ही नहीं और न उस सुखका अनुभव ही उसे हुआ तब वह कहेगी क्या? अतएव रसना कहनेको असमर्थ है। (ख)*'नहिं रसना पहिं पाइ बखाना'* कहकर उसे अनिर्वाच्य परम सुख जनाया। चौ० ४ भी देखिये।

खर्रा—*'सो सुख जानै मन अरु काना।……'* इति। **'श्रोतुं मनोऽभिरामात्।'** प्रभुके वचन सुनकर मन आसक्त हुआ है। मनके आसक्त होनेसे समस्त इन्द्रियाँ आसक्त हो गयीं। अतः बखाना नहीं जाता। यथा— *'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥'*, *'कोउ कछु कहइ न पारइ।'*, *'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।'* (२। २४२), *'सोक बिबस कछु कहै न पारा।'* (२। ४४)

प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥ ४॥
बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई॥ ५॥

अर्थ—प्रभुकी शोभाका सुख नेत्र जानते हैं पर वे कह कैसे सकें उनके वाणी तो है नहीं?॥ ४॥ बहुत प्रकार मुझे समझाकर सुख देकर फिर वही शिशुलीला करने लगे॥ ५॥

वै०—*'बहु बिधि'* अर्थात् जो ऊपर बहुत प्रकारसे समझाया है वही *'बहु बिधि'* है। *'तेई'* जो ऊपर कह आये हैं—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं'* से *'जाउँ समीप गहन पद फिर फिरि चितै पराहिं'* तक तथा अन्य क्रीड़ाएँ जो पूर्व करते रहे थे, वे सब *'तेई'* से जनायीं।

नोट—१ *'प्रभु सोभा……कहि किमि सकहिं……'* इति। भाव कि शोभाका दर्शन नेत्रका विषय है। नेत्रका विषय वाणी नहीं है। नेत्रके जिह्वा भी होती तो वे देखकर कह सकते। जो देखे वही यथार्थ कह सके। आशय यह कि शोभा अवर्णनीय है। मिलान कीजिये तथा देखिये—*'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥'* (१। २२९। २) [मन, श्रवण और नेत्र तीनोंके रसना नहीं है, अतः वे वाणीका सुख और तनकी शोभा नहीं कह सकते। (करु०)]

२—*'बहु बिधि।'*—(१) वरदान देकर—*'एवमस्तु कहि।'* (२) मेरी बुद्धिकी प्रशंसा करके—*'सुनु बायस……'* से *'मागेहु भगति……'* तक। (३) अपनी प्रसन्नता कहकर—*'रीझेउँ'* (४) सर्वगुणसम्पन्न बनाकर—*'सुनु बिहंग……'* से *'मम प्रसाद……'* तक (५) मायारहित करके—*'माया संभव भ्रम।'* (६) यह उपदेश देकर कि *'ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर'* हमें जानना। (७) *'कर्म बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग।'* (८) *'मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि'* (९) निज 'सिद्धान्त' 'परम विमल वाणी' सुनाकर। (१०) बारम्बार प्रतिज्ञा करके कि शुचि सेवक मुझे प्राणप्रिय है और तू शुचि सेवक है यह जानकर। (११) कालसे अभय करके, इत्यादि बहु विधिसे समझाना कहा।

३—*'सोउ जाने कर फलु यह लीला'* जो शिवजीने कहा था उसको यहाँ चरितार्थ किया है। ऐश्वर्य जाननेपर इस लीलाका सुख अब भुशुण्डिजीको प्रभु फिर देने लगे। ऐश्वर्य जाननेपर लीलामें सुख मिलता है।

श्रीरामगीता समाप्त हुई।

सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥ ६॥
देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई॥ ७॥
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति चरित ललित कर गाना॥ ८॥

अर्थ—नेत्रोंमें आँसू भरकर और मुखको कुछ रूखा (उदास) करके (प्रभुने) माताकी ओर देख (सूचित किया कि) अत्यन्त भूख लगी॥ ६॥ माता देखकर बड़ी शीघ्रतासे उठ दौड़ी और कोमल वचन कहकर छातीसे लगा लिया॥ ७॥ गोदमें लेकर दूध पिलाती हैं और रघुनाथजीके सुन्दर चरित गान करती हैं॥ ८॥

पं०—*'चितइ मातु लागी……'* अर्थात् दृष्टि और चेष्टासे भूख जनायी, अभी बोल नहीं सकते।

रा० प्र०—१ *'चितइ मातु लागी……'* अर्थात् देखकर कहा कि बड़ी भूख लगी है। २—*'कहि*

मृदु बचन' जिसमें रोने न लगें। '*कर गाना*' से आनन्दकी उमंग जनायी। '*मृदु बचन*' जैसे कि मैं तेरी बलैया लूँ, बलिहारी जाऊँ, बड़ी भूख लगी है, अभी दूध पियो इत्यादि। गीतावलीमें मृदु वचनके उदाहरण; यथा—'*बाछरू छबीलो छौना छगन मगन मेरे कहति मल्हाइ मल्हाइ।*' '*ललन लोने लैरुआ बलि मैया।*', '*पौढ़िये लाल पालने हौं झुलावौं। कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥—चारु चरित रघुबर तेरे मिलि गाइ चरन चित लावौं॥*' (गी० १५)

नोट—'*रघुपति चरित ललित*' इति। मनुष्योंके बालकोंके समान जो बालकेलि प्रभु कर रहे हैं। जिनमें ऐश्वर्यकी किंचित् भी झलक नहीं है उन्हें नर-लीला होनेसे ललित कहा, यथा—'*मैं कछु करब ललित नर लीला।*' '*कर गाना*', यथा—'*सुभग सेज सोहत कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये। बार बार बिधु बदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये॥ कबहुँ पौढ़ि पय पान करावति कबहुँक राखत लाइ हिये। बालकेलि गावत हलरावत पुलकित प्रेमपियूष पिये॥ बिधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिये। तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहु तो पायो न बिये॥*' (गी० बा० ७)

सो०—जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन॥
सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥८८॥

अर्थ—जिस सुखके (आस्वादनके) लिये सुख देनेवाले कल्याण-स्वरूप त्रिपुरारि श्रीशिवजीने अमंगल वेष धारण किया* उस सुखमें अवधपुरीके स्त्री-पुरुष सदैव डूबे रहते हैं। उस सुखका लवलेशमात्र जिन्होंने एक बार स्वप्नमें भी प्राप्त किया, हे खगेश! वे सुन्दर बुद्धिमान् सज्जन ब्रह्मसुखको कुछ नहीं गिनते॥ ८८॥

पं०, पं० रा० व० श०—जितने ही संसारसे विरक्त रहेंगे उतना ही प्रभुका सब प्रकारका सुख मिलेगा। अशुभ वेष होनेसे विशेष सम्पर्क न होगा। अत: अशुभ वेष धारण किये रहते हैं।

नोट—१ '*जेहि सुख लागि*' इति। यहाँ बाल-चरितका सुख अभिप्रेत है क्योंकि यहाँ वही प्रसंग है। पूर्व लिखा जा चुका है कि बालरूप ही भगवान् शंकरका इष्टस्वरूप है जैसा कि '*बंदौं बालरूप सोइ रामू।*' (१। ११२। ३) से स्पष्ट है। यही उपासना उन्होंने लोमशजीद्वारा भुशुण्डिजीको दी। [पं०—'*जेहि सुख*'=दर्शनरूपी सुख]

२—'*असुभ बेष कृत सिव सुखद*' इति। गलेमें मुण्डमाल, सर्पहीके मुकुट और आभूषण धारण किये, विभूति लगाये, बाघम्बर पहिने इत्यादि 'अशुभ वेष' है। बालकेलिका सुख प्राप्त करनेके लिये शिवजी ऐसा वेष बनाकर अवधपुरीमें श्रीरामावतार होनेपर आया करते हैं। इस स्वरूपको देखकर प्रभु प्रसन्न होते हैं, किलकारी मारकर हँसते हैं—(करु०)। [वै०—शिवजी अमंगल उदासीन वेष किये रहते हैं जिसमें ध्यान स्थिर बना रहे, प्रेमानन्द खण्डित न हो।]

३—अमंगल वेष होनेसे दूसरोंका अमंगल होता होगा, यह सन्देह निवारण करनेके लिये '*सिव सुखद*' और '*पुरारि*' विशेषण दिये। भाव कि वे 'शिव' अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं, अशुभवेष धारण करनेसे वे अकल्याणकर्ता कैसे हो सकते हैं? सुखद हैं, त्रिपुर दैत्यको मारकर तीनों लोकोंको सुखी किया था। मिलान कीजिये तथा देखिये—'*साजु अमंगल मंगलरासी।*' (१। २६), '*कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला। गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला॥*' (१। ९२। २—४) '*भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आनन सरदचंद छबि हारी॥*' (१। १०६)

---

* अर्थान्तर 'जिस सुखमें लगकर त्रिपुरारि शिवजी अमंगल वेष किये रहनेपर भी आनन्ददाता हैं।' पां०—अशुभवेष धरकर अर्थात् चोर बनकर जाते हैं।

४ *'तेहि सुख महुँ संतत मगन'* इति। इस कथनसे अवधवासियोंको उनसे भी अधिक बड़भागी जनाया। *'पुरारि……'* कहकर तब *'तेहि सुख……'* कहनेका भाव कि ऐसे समर्थ ईश्वर भी सुखके लिये लालायित रहते हैं, पर उनको भी अशुभ वेष बनानेपर भी सदा यह सुख नहीं प्राप्त होता और अवधवासी दिन-रात उसी सुखमें डूबे रहते हैं। [पं०—शिवजी इस सुखके लिये जगत्‌से न्यारे अर्थात् असंग रहते हैं। अवधवासी सर्व व्यवहार करते हुए भी वही दर्शन-सुख सतत लेते हैं।]

'लवलेश'। 'लव' बहुत थोड़ेका वाचक है। पुनः, 'लव' निमेषके ६० वें भागको भी कहते हैं। लेश=अणु, सूक्ष्मता, संसर्ग, लगाव। लव और लेश दोनों देकर अत्यन्त किञ्चित् वा अत्यन्त अल्पकालका अर्थ सूचित किया। पुनः, ५४०० परमाणुका एक लव होता है (भा० ३। ११)। इसका लेश कहकर एक परमाणुसे भी कम भाग अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म-बराबर भी सुख जनाया जिससे सूक्ष्म हो ही न सके उतनी मात्रा।

५ *'ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति'* इति। (क) ब्रह्मसुख आनन्दकी अवधि है। प्रभुके रूप, गुण, वाणी, चरित इत्यादिके सुखके आगे ब्रह्मसुखको तुच्छ समझते हैं, यह कहकर उसकी अतिशय उत्कृष्टता दिखायी। (ख) *'सज्जन सुमति'* का भाव कि जो सुंदर मतिमान् सज्जन हैं उनका यह हाल है। जो असज्जन एवं दुर्बुद्धि हैं उनको वह सुख नहीं प्राप्त होता। श्रीजनकजी और श्रीसनकादिकजी उदाहरणस्वरूप हैं, यथा—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'*, *'चरित सुनहिं तजि ध्यान।'*, *'अहमम मलिन जन'* को नहीं मिलता।

मैं पुनि अवध रहेउँ कछु काला। देखेउँ बाल बिनोद रसाला॥ १॥
राम प्रसाद भगति बर पाएउँ। प्रभुपद बंदि निजाश्रम आएउँ॥ २॥
तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥ ३॥
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरिमाया जिमि मोहि नचावा॥ ४॥

अर्थ—फिर (इस चरितके पश्चात्) कुछ समयतक मैं अवधमें रहा और रसीले बाल-विनोद देखे॥ १॥ श्रीरामजीकी कृपासे मैंने भक्तिका वरदान पाया। प्रभुके चरणोंकी वन्दना करके मैं अपने आश्रमपर आया॥ २॥ जबसे श्रीरघुनाथजीने मुझे अपना लिया तबसे मुझे माया नहीं व्यापी॥ ३॥ भगवान्‌की मायाने जैसे मुझे नचाया वह सब गुप्त चरित मैंने कहा॥ ४॥

नोट—१ *'कछु काला'* अर्थात् पाँचवें वर्षकी समाप्तितक। यथा—*'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'* (७५। ४) यहाँ उपासनाकी अनन्यता और आदर्श दिखाया कि शैशवावस्था छोड़कर दूसरी अवस्थामें नहीं रहते। यह बालकरूप राममें अनन्यताका आदर्श है। २—*'बाल बिनोद रसाला'*—विशेष रस अर्थात् आनन्दमय होनेसे रसाला कहा। ३—*'प्रभुपद बंदि'*—यह विदाई तथा कृतज्ञता एवं स्वामी-सेवक-भावानुकूल है तथा अपना कृतकृत्य होना जनाता है। ४—*'जब ते रघुनायक अपनाया'* का भाव कि प्रभुके अपनानेसे ही माया छूटती है अन्यथा नहीं। अपनाया अर्थात् कृपादृष्टि करके मायाका अपहरण कर लिया, यही अपनानेका लक्षण है, यथा—*'करि करुना भरि नयन बिलोकहु तब जानौं अपनायो'* (गी० ५। ४४। विभीषणवाक्य) और प्रभुने इनपर कृपादृष्टि की है—*'प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी'*, *'मायासंभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि।'*—यही अपनाना है। विनयमें अपनानेके लक्षण इस प्रकार कहे हैं—*'तुम्ह अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय बिषयन्हि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥ सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै। आपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरिहै॥ हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरिहै। हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै॥ प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयनन्हि ढरिहै। तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥'* (वि० २६८)—ये सब लक्षण श्रीभुशुण्डिजीमें तो पहलेसे थे, पर उन्होंने अपनाना तब माना जब प्रभुने उन्हें सदाके लिये मायाविगत कर दिया। इसी तरह भक्त जितना

भक्तिमें बढ़ता है उतना ही वह अपनेमें त्रुटियोंका अनुभव करता है और जबतक वह इस तरह अपनाया नहीं जाता, वह सुखी नहीं होता। ☞ यह हम लोगोंके लिये उपदेश है। जबतक मायारहित न हो, अपनाया हुआ न समझे। ५—*'यह सब गुप्त चरित मैं गावा'* इति। भाव कि यह प्रभुका रहस्य अबतक किसीसे कहा न था। यह रहस्य और अपना मोह सब किसीसे कहनेकी बातें नहीं हैं अतः गुप्त रखा था। इसीसे प्रारम्भमें कहा था कि *'परम रहस्य मनोहर गावउँ।'* रहस्य गोपनीय वस्तु है। [रा० प्र०—गुप्तका भाव कि यह चरित मैं ही जानता हूँ दूसरा नहीं।]

वि० त्रि०—*'यह सब गुप्त——नचावा।'* इति। *'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुप्त प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥'* इस अर्धालीमें गुप्त चरितका उल्लेख किया है। प्रश्न उठता है कि वे गुप्त चरित कौन-से हैं? सीधा-सा उत्तर है कि जिसे चरित्रके देखनेवाले भी न जान सकें। *'तेहि कौतुक कर मर्म न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू॥'* केवल मैं जान सका। क्योंकि सरकारकी इच्छा ही ऐसी थी। अतः इस चरितको गुप्त कहा। इसी भाँति सीताजीको अग्निमें रखना आदि चरित्र भी गुप्त चरित्र कहे जाते हैं।

उपक्रम	उपसंहार
७८ (१) *रघुपति प्रेरित ब्यापी माया।*	१ *हरिमाया जिमि मोहि नचावा* ८९ (४)
७५ (३) *तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ बालचरित बिलोकि हरषाऊँ*	२ *प्रभुपद बंदि निजाश्रम आयउँ* ८९ (२) ३ *देखेउँ बालबिनोद रसाला* ८९ (१)
७४ (२) *जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सोउ सब कथा सुनावउँ तोही॥*	४ *यह सब गुप्त चरित मैं गावा।*
७४ (४) *परम रहस्य मनोहर गावउँ*	*हरिमाया जिमि मोहि नचावा॥ ८९। ४॥*

☞ पूर्व-प्रसंग समाप्त करके आगे अनन्यशरणागति दृढ़ कराते हैं।

भुशुण्डिजीका 'निज अनुभव'

निज अनुभव अब कहौं खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥ ५॥
रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥ ६॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ ७॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनुभव**=वह ज्ञान जो साक्षात् करनेसे अथवा परीक्षाद्वारा प्राप्त हो=स्मृति-भिन्न ज्ञान।

अर्थ—खगेश! अब मैं अपना अनुभव किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ। (वह यह है कि) बिना भगवद्भजनके क्लेश दूर नहीं होते॥ ५॥ हे खगराज! सुनो, बिना रामकृपाके श्रीरामजीकी प्रभुता जानी नहीं जा सकती॥ ६॥ बिना (महिमा) जाने विश्वास नहीं होता और बिना विश्वासके प्रीति नहीं होती॥ ७॥ बिना प्रीतिके भक्ति दृढ़ नहीं होती* जैसे कि हे खगपति! (बिना तेलके) जलकी चिकनाई (दृढ़ नहीं रहती)†॥ ८॥

रा० शं० श०—*'अब कहौं'* का भाव कि अभीतक तो श्रीरामजीका कहा हुआ उनका सिद्धान्त कहा, अब जो मैंने स्वयं अनुभव किया है उसे कहता हूँ।

नोट—१ (क) *'बिनु हरि भजन——'* इति। इसीसे पूर्व उपक्रम किया था। यथा—*'ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥'* (७९। १) क्लेश—७९ (१) देखिये। (ख) *'बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा'* यथा—*'तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ।'* (वि० ८६), *'जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥'* (वि० १२७) यह *'निज अनुभव'* कहा। आगे इस सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं, अतः फिर *'सुनु खगराई'* कहा। (ग) वक्ता प्रायः सबकी कहकर श्रोताको दृढ़ करनेके लिये अपना अनुभव-सिद्धान्त कहा करते हैं। यहाँ गरुड़में भक्ति दृढ़ करनेके

* कारणमाला, प्रथमविनोक्ति। † उदाहरण, अलंकार।

लिये निज अनुभव कहा, यथा—'*अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥*' (९०) इसी प्रकार शिवजीने अपना अनुभव पार्वतीजीसे कहा है, यथा—'*उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥*' (३। ३९। ५) यहाँ कारणमाला अलंकार है। बिना हरिभजनके क्लेश नहीं जाते, यह कहकर '*रामकृपा बिनु—*' कहनेसे सूचित हुआ कि क्लेशका जाना यह रामकृपा ही है। रामभजनसे क्लेश मिटते हैं अर्थात् रामकृपा होती है, यथा—'*मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥*' (१। २००। ६) कृपासे प्रभुताका ज्ञान, प्रभुताके ज्ञानसे प्रभुमें विश्वास, विश्वाससे प्रेम और प्रेमसे दृढ़ भक्ति होती है। इस प्रकार रामभजनसे कृपा, क्लेशनाश, प्रभुताका ज्ञान, प्रभुमें विश्वास, प्रभुमें प्रेम और दृढ़भक्ति सबकी प्राप्ति दिखायी। रामभजन ही साधन और रामभक्ति ही साध्य है।

जाननेसे प्रतीति, उससे प्रीति तब भक्ति, इसे सुग्रीवमें भी चरितार्थ देखिये—'*देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥ बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भएउ अलोला॥*' (४। ७। १३—१५)

२ '*रामकृपा बिनु—जानि न जाइ—*', यथा—'*तुम्हरे भजन प्रभाव अघारी। महिमा जानउँ कछुक तुम्हारी॥*' (३। १३। ५) अगस्त्यजीके वाक्यमें बीचकी सीढ़ी 'रामकृपा' नहीं कही है। 'भजन' में ही उसका ग्रहण वहाँ समझ लेना चाहिये। भजनका प्रभाव कृपा है और कृपासे महिमाका ज्ञान हुआ।

करु०—रामकृपा तब समझी जाय जब विशुद्ध संत मिलें, यथा—'*संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥*' (६९। ७)

वै०—'*जानि न जाइ—दिढ़ाई*' का भाव यह है कि ऐश्वर्यको यथार्थ जाने बिना प्राकृत नरनाट्य देख माधुर्यरूपमें प्रतीति नहीं होती कि ये सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, बिना इसके प्रीति हुई भी तो वह स्थिर नहीं रहती, बुद्धि थोड़ेहीमें भ्रमित हो जाती है।

नोट—३ '*जल कै चिकनाई*' इति। 'चिकनाई' के अर्थ हैं—'घी, तेल वा स्निग्ध पदार्थ', 'चिकनाहट', 'चिकनापन', 'स्निग्धता'। इसीके अनुसार लोगोंने दो-तीन अर्थ किये हैं—

(१) 'शरीरपर जल चुपड़ दें तो उस समय उसपर चिकनाहट आ जाती है, पर थोड़ी ही देरमें जल सूखनेपर शरीर रूखा हो जाता है। इसी तरह प्रीतिके बिना भक्ति स्थिर नहीं रह सकती। किंचित्काल रहेगी फिर जाती रहेगी।' (पां)। इस तरह ['*जल कै चिकनाई*' =जलसे किया हुआ चिकनापन।=जलमें जो चिकनापन है वह]

(२) जैसे जलमें घी, तेल आदि चिकनाई छोड़ देनेसे वह ऊपर ही उतराता रहता है, स्थिर नहीं होता, वैसे ही बिना प्रीतिके भक्ति अन्तःकरणमें पक्की नहीं होती (पां०)। इस तरह जल कै=जलपर डाली हुई।

(३) जबतक जलमें रहो तबतक जलकी चिकनाहट रहती है, उससे निकलनेपर चिकनाहट जाती रहती है, वैसे ही बिना प्रेमके भक्ति दृढ़ नहीं रहती, जबतक संतसंगका संयोग रहा, कथा-वार्त्ता सुनते रहे, तबतक भक्ति बनी रही, संग छूटा कि वह जाती रही। (करु०)

(४) 'जैसे जलके ऊपर चिकनाई तुरंत लख पड़ती है चिरथाई नहीं'। (अज्ञात)

(५) पं०—अर्थ है कि जैसे जलके बिना स्निग्धता नहीं होती है।

☞ मिलान कीजिये—'*तुलसी सहज सनेह राम बस और सबै जलकी चिकनाई।*' (वि० २४०)

(६) नंगे परमहंसजी—'*जिमि खगपति जल कै चिकनाई*' इति। 'जैसे जलकी चिकनाई दृढ़ नहीं रहती है। जब जलमें पवन हिलोरा उठा देता है तब जलकी चिकनाई मिट जाती है। और जब जलमें पवन शान्त हो जाता है तब बीची न उठनेसे जलमें चिकनाई आ जाती है। वैसे ही जलरूप श्रीरामजीकी भक्तिमें जब पवनरूप वासना मनमें आ गयी तब जलकी चिकनाई मिट जानेरूप भक्ति छूट गयी। जब पवनरूप वासना शान्त हो गयी तब फिर जलकी चिकनाईरूप भक्ति आ गयी और जब श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति हो जाती है तब मन निर्वासनिक हो जानेसे भक्ति दृढ़ हो जाती है। प्रमाण—'*मन ते सकल बासना*

भागी। केवल रामचरन लव लागी॥' जल-स्थान श्रीरामजी हैं चिकनाईरूप भक्ति है। किसी महात्माने जलकी चिकनाईका यह अर्थ किया है कि ***'जब जलके भीतर रह्यो तब ताईं शरीरमें चिकनाई बनी रही है और जब जलसे निकस्यो तब जलकी चिकनाई जाती रही।'*** परंतु ऐसा अर्थ करनेसे शब्ददोष उपस्थित हो जाता है, क्योंकि शब्द तो यह है कि जलकी चिकनाई नहीं दृढ़ रहती है और महात्माजी नहानेके बाद शरीरमें जलकी चिकनाई लिखते हैं यह शब्ददोष है। पुन:; जलतत्त्वमें चिकनापन नहीं रहता है, जलमें तो शीतलत्वगुण है। चिकनापन तो घृत व तैलमें रहता है। अत: जलमें चिकनाईका अर्थ करना अयोग्य है।'

(७) गौड़जी—पाठ 'जल कै चिकनाई' है, 'जल पर चिकनाई' नहीं है। अत: जलके ऊपर तैलबिन्दुकी चञ्चलतावाला अर्थ यहाँ नहीं घटता। जलमें चिकनाई अवश्य होती है। क्योंकि जलतत्त्वमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चारों विषयोंका भाव है। साधारण जलमें चिकनाई तभीतक मालूम होती है जबतक वह त्वचासे संलग्न है। परंतु जलके सूखते देर नहीं लगती, चिकनाई उड़ जाती है। जलमें कोई गन्धवाला अस्थिर या उड़ जानेवाला तैल मिला हो तो भी चिकनाई दृढ़ नहीं हो सकती। स्थिर तैलोंकी, जैसे तिल, एरण्ड, सरसों, अलसी आदिके तैलोंकी चिकनाई स्थिर होती है। यह तैल यदि जलमें मिले हों तो इनकी चिकनाई स्थायी और दृढ़ होगी। अब प्रस्तुत प्रसंगको लीजिये।—प्रीतिका एक दूसरा पर्याय है 'स्नेह' और स्नेह तैलको भी कहते हैं। बिना प्रीतिके या बिना तैलके भक्ति या चिकनाई दृढ़ नहीं हो जाती, जैसे बिना तैलके पानीकी चिकनाई दृढ़ नहीं रहती।

इसपर यह शङ्का की जा सकती है कि 'गोस्वामीजीको यदि यहाँ प्रीतिकी तैलसे उपमा देनी होती तो 'स्नेह' शब्दका ही प्रयोग क्यों न करते? उससे छन्दोभङ्गका तो कोई भय न था?' तो इसका समाधान यह है कि प्रभुताके ज्ञानके साथ प्रतीति और प्रतीतिके साथ प्रीति शब्दका प्रयोग करते आये हैं। 'अलङ्कारकी रक्षाके लिये प्रीति शब्दका लाना बहुत जरूरी था और प्रीति शब्दकी जगहपर, 'स्नेह' वाले पर्यायकी ओर इशारेके साथ ही, 'चिकनाई' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके अन्वयमें 'जिमि खगपति के आगे 'स्नेह बिना' यह दो शब्द विवक्षित समझे जाने चाहिये। अन्वय इस प्रकार होगा—हे खगपति! प्रीति बिना भक्ति नहि दृढ़ाई जिमि स्नेह बिना जल कै चिकनाई नहीं दृढ़ाई।' और जो लोग यह अर्थ करते हैं, कि जलमें चिकनाई तभीतक रहती है जबतक वह शान्त रहता है और वासनाकी बयारिसे जब तरंगें उठती हैं तब चिकनाई नहीं रह जाती, वे भ्रममें हैं, क्योंकि जलमें स्पर्शगुण सदा मौजूद रहता है, अत: वह चिकना होगा अथवा खर होगा, किसी-न-किसी प्रकारका स्पर्शगुण अवश्य होना चाहिये। जलमें खरत्वका अभाव है, उसमें चिकनापन सदा बना रहता है। उस चिकनेपनको वायु मिटा नहीं सकती।

रा० शं०—१ सतीजीको शंकरजीने पहले बहुत उपदेश किया पर वह लगा नहीं। जब परीक्षामें महत्त्व जाना तब विश्वास हो गया और रामकथामें प्रीति हुई, यथा—***'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥'*** २ श्रीपार्वतीजीके हृदयमें शंकरजीकी प्रीति थी—(***'नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मनु लागा॥'***)। इस कारण दृढ़ भक्ति ऐसी रही कि सप्तर्षिके बहुत कुछ खण्डन करनेपर भी वह नहीं हटी।

सो०—बिनु गुर होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु॥
कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ*॥ ८९॥

शब्दार्थ—**पचना**=बहुत अधिक परिश्रमके कारण शरीर, मस्तिष्क आदिका गलना, सूखना या क्षीण होना=बहुत दु:ख सहना। 'पच मरना' मुहावरा है=जी तोड़कर बहुत अधिक परिश्रम करके कोई काम करना।

* का० में 'ज्ञान न होइ', 'लहहि', 'को बिश्राम' 'पचि मरै' है।

अर्थ—क्या गुरुके बिना ज्ञान हो सकता है? क्या बिना वैराग्यके ज्ञान हो सकता है?* (इसी प्रकार) वेद-पुराण कहते हैं कि क्या सुखकी प्राप्ति भगवान्‌की भक्तिके बिना हो सकती है? हे तात! स्वाभाविक संतोषके बिना क्या कोई शान्ति पा सकता है? क्या जलके बिना नाव चल सकती है, चाहे करोड़ों उपाय कर-करके पच-पच मरिये?॥ ८९॥

पं० रा० व० श०—*'बिनु गुर होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु'* से जनाया कि ज्ञानके लिये गुरु और वैराग्य दोनों आवश्यक हैं। गुरुद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, पर यदि वैराग्य न हुआ तो भी ज्ञान स्थिर न रहेगा, व्यर्थ हो जायगा। यथा—*'बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥'* (२। १७८। ४) ज्ञान दोनोंसे होता है, गुरुसे और वैराग्यसे भी। इसी प्रकार सुखप्राप्तिके दो कारण बताये—'सहज संतोष' और 'हरिभक्ति'। भाव कि हरिभक्ति होनेपर जब सहज संतोष प्राप्त हो जायगा तभी सुख होगा। और सहज संतोष होनेपर भी जबतक हरिभक्ति न होगी तबतक सुख न होगा। हरिभक्ति मूल है।

रा० प्र०—'गुरु बिना ज्ञान नहीं, विराग बिना ज्ञान नहीं' का भाव कि जब एकमें लगा रहेगा तब उसके विरुद्धमें (लगना) कठिन है।

पं०—तत्त्व यह कि तीव्रतर वैराग्य हो और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिले तब पूर्ण ज्ञान होता है।

करु०—१ *'बिनु गुर होइ——'* इति। जैसे सूर्य और दर्पण दोनोंके संयोगसे मुख देख पड़ता है (अन्धकारमें वैराग्य दर्पण भी बेकार है), जैसे पति और पत्नी दोनोंके संयोगसे पुत्र उत्पन्न होता है वैसे ही यदि शिष्यमें वैराग्य नहीं है तो गुरुका उपदेश नहीं लगता और वैराग्य हो जाय तो भी बिना गुरुके शास्त्रादि पढ़नेसे ही ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सेवक-सेव्य-भाव बिना जीवका कल्याण नहीं। २—*'सहज संतोष'* यह है कि न आयेका हर्ष हो और न गयेका शोच।

रा० बा० दा०—१ शास्त्र अनेक पढ़ेपर जबतक आत्मदर्शी गुरुकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक आत्मस्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा न होता तो शुकदेवजी जनकजीसे ज्ञानकी शिक्षा लेने क्यों जाते। २—स्वाभाविक संतोषसे सुख होता है—*'जथा लाभ संतोष सुख रघुपतिचरन सनेह।'* यहाँ संतोष जल है, वैराग्य नाव है।

गौड़जी—श्रीगीताजीमें ज्ञान और अज्ञानके लक्षण अध्याय १३ के ७ वें श्लोकसे लेकर ११ वें श्लोकतक भगवान्‌ने स्वयं कहे हैं। इनमें—'**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥**' (८—१०) इन ८ वें और ९ वें श्लोकोंमें इन्द्रियके विषयोंसे वैराग्य, अहंकारहीनता, जन्ममृत्युजरा-व्याधिदुःखदोषोंका चिन्तन, सांसारिक वस्तुओंसे असंग, इष्टानिष्टके साथ समभाव, एकान्त-सेवन और भीड़-भड़क्केसे दूर रहना—इन सातोंको ज्ञानका ही रूप बताया है और ये हैं वास्तवमें 'वैराग्य'। अतः यह कहना कि वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं हो सकता स्पष्ट ही है। जिन सब सामग्रियोंको हम ज्ञान कहते हैं, जब वही नहीं हैं तो ज्ञान कहाँसे हो सकता है? गुरुके बिना भी ज्ञानका होना असम्भव है। गुरु और आचार्य पर्यायवाची हैं। गुरुका अर्थ है—'अज्ञानके अन्धकारको नष्ट करनेवाला' और आचार्यका अर्थ है—'ठीक अर्थको बतानेवाला और आचरणद्वारा शिक्षा देनेवाला।' अन्धकार केवल पुस्तकके ज्ञानसे दूर नहीं हो सकता। वास्तविक व्यवहारहीसे दूर होता है। ज्ञानकी परिभाषा जो गीताजीमें की है उसमें आध्यात्मिक ज्ञानके लिये उसका नित्यत्व और तत्त्वज्ञानके साथ उसके अर्थका दर्शन बताया है। कोरे ज्ञानका कहीं स्थान नहीं है। वैराग्य तो सोलहों आना व्यावहारिक रूप है, इसीलिये एक ओर तो शिक्षा देनेवाला गुरु ज्ञानके लिये आवश्यक है; क्योंकि आचरणकी शिक्षा मिलनी चाहिये और तत्त्वज्ञानका यथार्थ दर्शन होना चाहिये, जो केवल पुस्तक पढ़नेसे सम्भव नहीं है।

दूसरी ओरसे शिष्यमें केवल मौखिक ज्ञान होनेसे काम नहीं चलनेका; क्योंकि वैराग्य उसकी आवश्यक सामग्री है। ऊपर लिखे सातों वैराग्यके आवश्यक अङ्गोंका शिष्यमें होना अनिवार्य है। इसीलिये गुरु और वैराग्य दोनोंके दोनों ज्ञानके लिये अनिवार्य हैं।

* १ वीर, पां०—अर्थ—'क्या ज्ञानके बिना वैराग्य हो सकता है?'

पं० प० प्र०—गुरुमुखसे महावाक्योपदेश श्रवण करके उसके पश्चात् मनन-निदिध्यासन करनेसे अपरोक्षानुभूतिरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। पर जो शिष्य शुद्धचित्त (चित्तशुद्धियुक्त) न हों, जिनका मन चञ्चल हो, उनको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती; अतः उपदेशसे ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी तीव्र वैराग्ययुक्त तीव्रतम मुमुक्षु ही है। यहाँके 'विराग' शब्दसे विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता इन सबोंका ग्रहण करना चाहिये।

नोट—१ *'गावहिं बेद पुरान'* का भाव कि हम अपनेसे ही नहीं कहते, वेद-पुराण इसके प्रमाण हैं। *'सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु'* का भाव कि हरिभक्तिसे ही सुख मिलता है, यथा—*'जिमि हरिसरन न एकउ बाधा।'* *'गावहिं बेद पुरान……हरिभगति बिनु'* यही आगे फिर अनेक दृष्टान्तोंद्वारा सिद्धान्त बताया गया है। यथा—*'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥'* (१२२। १४) '……*बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥'* (१२२) २—*'बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु'* इति। संतोषसे ही सुख होता है, यह बात आगे सिद्ध करते हैं, यथा—*'बिनु संतोष न काम नसाहीं……।'* *'सहज संतोष'* का भाव कि जन्मसे जो स्वाभाविक संतोष होता है वही विश्रामदाता है। ३—*'कोटि जतन पचि पचि मरिअ'* अर्थात् कष्टप्रद साधनोंमें प्राण क्यों न दे दें पर सुख न होगा।

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥ १॥
रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥ २॥
बिनु बिज्ञान कि समता आवै। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै॥ ३॥

शब्दार्थ—**अवकाश**=स्थान, जगह।

अर्थ—बिना संतोषके कामनाएँ नाश नहीं होतीं और कामनाओंके रहते सुख स्वप्नमें भी नहीं हो सकता॥ १॥ रामभजनके बिना क्या कामनाएँ मिट सकती हैं? (नहीं)। क्या बिना पृथ्वीके कभी वृक्ष जमा है? (कभी नहीं)॥ २॥ क्या विज्ञानके बिना सबमें समता-भाव आ सकता है? क्या बिना आकाशके कोई अवकाश पा सकता है? (कभी नहीं)॥ ३॥

नोट—१ (क) संतोषसे वासनाओंका नाश होता है, यथा—*'जिमि लोभहि सोषइ संतोषा।'* (४। १६। ३) संतोष न होनेसे कामना बनी रहती है, यथा—*'नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू।'* (१। २७४। ७) (ख) *'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं'* यथा—*'पाकारिजित काम बिश्रामहारी।'* (वि० ५८) *'सपनेहु नाहीं'* का भाव कि फिर जाग्रत्‌में कब हो सकता है। अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

☞ यहाँ कामका नाश दो प्रकारसे कहा। एक तो संतोषसे, दूसरे रामभजनसे। इसी तरह ऊपर सुखके विषयमें कहा कि *'सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु'* और यहाँ कहते हैं *'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।'* *'बिनु संतोष न काम नसाहीं'* और *'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं'*—यह साधारणतः बोलचालमें कहा और *'सुख कि लहिअ'* *'मिटहिं कि कामा'* यह काकुद्वारा कहा। इसमें विशेष जोर है। इस वक्रोक्तिमें यह जोर है कि संतोष भी हो जाय तब भी यदि रामभजनविहीन है तो उस संतोषसे भी काम नष्ट न होगा, संतोषके लिये भी राम-भक्तिका होना परमावश्यक है। इसी प्रकार कामरहित होनेपर भी सुख प्राप्त होना असम्भव है यदि रामभजन न हुआ। तात्पर्य कि श्रीरामजीकी भक्ति करनेसे ही संतोष स्थिर रहेगा, उसीसे कामका सर्वथा नाश होगा और दृढ़ सुख प्राप्त होगा, अन्य किसी प्रकार नहीं। क्योंकि रामभजन करनेसे भगवान् स्वयं रक्षक बन जाते हैं—*'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* (१। १२६। ८) यह बात *'थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा।'* से पुष्ट करते हैं। यदि पृथ्वी न हो तो पेड़ आकाशमें बिना मिट्टीके लग नहीं सकता वैसे ही रामभजन संतोषादितरुका थाल्हा है, बिना इसके वे नहीं हो सकते।

रा० प्र०—*'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा'* में भाव यह है कि भजनसे अवसर ही न मिलेगा कि काम-भावना उठे।

रा० शं०—*'रामभजन बिनु'* इति। काम वृक्ष है। इसका थल रामभजन-विमुखता है। जब यह थल होता है तब काम वृक्ष बना रहता है और जब भजन विमुखता मिटकर रामभजन होता है तब थल न रहनेसे कामवृक्ष भी नहीं रहता। राम-विमुखताको थल कहनेका भाव कि रामविमुखता ही भव है। रामभजन भवका काल है। जहाँ भव है वहाँ काम है। *'जहाँ राम तहँ काम नहिं।'*

वै०—१ *'बिनु संतोष न——'* इति। 'सहज स्वभावसे सन्तोष बना रहे तो किसी वस्तुकी कामना न उठेगी, तब वैराग्य होनेसे मनको विश्राम मिलेगा, वह परमार्थमें लगेगा। संतोष बिना न सुख और न कामका नाश होगा न सुख मिलेगा' यह कहकर आगे बताते हैं कि कामका नाश कैसे हो। रामभजन बिना काम नहीं मिटता, थल बिना वृक्ष नहीं जमता। भाव कि भजनरूप भूमिको पाकर अकाम अंकुरित होगा, जिससे विराग, विवेक और ज्ञानरूपी पत्र-शाखायुक्त विज्ञानवृक्ष होगा जिसके प्रभावसे समता आवेगी। समतासे श्रद्धा उपजेगी, उससे धर्ममें मन लगेगा, तब जप-तपादि साधन करेगा जिससे तेज बढ़ेगा। बुधकी संगतिसे शील स्वभाव होगा। जीव जब सुखी होगा तब मन स्थिर होगा, विश्वास होगा, तब जो साधन करेगा सब सिद्ध होंगे।—यह परमार्थ-मार्ग हुआ। इसमें सत्सङ्ग-प्रभावसे ज्ञान ले जानेवाला है। 'कुसंगसे, कामियोंके संगसे, विषयवार्तामें मन और सब इन्द्रियाँ जायेंगी। कामसे क्रोध और क्रोधसे मोह होकर जीव भवमें पड़ेगा।'

नोट—*'बिनु बिज्ञान कि समता——'* इति। विज्ञान होनेपर जीव सबको ब्रह्मरूप (चिदचिद्ब्रह्मरूप) देखने लगता है अथवा सबमें अपनी ही आत्माको, अपनेहीको देखता है, उसकी दृष्टिमें दूसरा रह ही नहीं जाता, इसीसे विषम-भाव कहीं नहीं रह जाता, सबमें सम-भाव हो जाता है। यथा—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'* (११२) *'तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥'* (११७) ८६ (६) भी देखिये। समता-भाव किस प्रकार आता है यह पूर्व कई बार लिखा जा चुका है।

प० प० प्र०—यहाँ आकाशका दृष्टान्त देनेमें भाव यह है कि 'जैसे आकाश अदृश्य होनेपर भी सर्वव्यापक है वैसे ही **'कं ब्रह्म' 'खं ब्रह्म'** जो सकल इन्द्रियपर है, आकाशमें भी व्यापक है उसे उतनी ही (अर्थात् आकाशके समान) व्यापक दृष्टिसे बिना देखे समता न मिलेगी।'

नोट—*'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा।'* (९०। २) से लेकर *'बिनु हरि भजन न भव भय नासा।'* (९०। ८) तकके विशेष भाव आगे ९० (७-८) में दिये गये हैं।

वै०—*'बिनु बिज्ञान कि समता आवै——'* इति।—यहाँ वाच्यार्थ केवल दृष्टान्तमात्र यही है कि यथा बिना विज्ञान हुए जीवमें समता नहीं आती तथा बिना आकाशके किसीको सब ओर आने-जानेका अवकाश नहीं मिल सकता है। भावार्थ यह है कि वैराग्य हो, गुरुकृपासे ज्ञान हो, संतोष हो, कामका नाश हो, इतने बन्धन हों तब कहीं जीवको विज्ञान होकर समता आती है। जीव आकाश-तत्त्वमें न पड़े तो विषयादिमें न पड़े, नभमें पड़नेसे ही विषयोंमें पड़नेका अवकाश उसे मिलता है; नहीं तो बराबर समता बनी रहे। आकाशसे अवकाश इस तरह कि—आकाशतत्त्वकी इन्द्रिय कान है, कानका विषय शब्द है। शब्द कानमें पड़ते ही अन्तर्वृत्ति विषय-वासनामें फैली, तब जीव किसीको शत्रु और किसीको मित्र इत्यादि मानने लगा। असत् वार्ता न सुने तो मन क्यों विषय-सुखमें फैले। ☞ यहाँ प्रसंगभरमें यह दिखलाते हैं कि जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, उसे अपनी इच्छासे वैराग्य, संतोष, विज्ञान इत्यादि तथा इन सबके मूल रामभजनमें लगना चाहिये। इसी तरह दृष्टान्तोंसे दिखाते हैं कि जीव स्व इच्छासे ही भवमार्गमें जाता है।

रा० प्र०—*'कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै'* इति। अवकाश=अन्तरपोल। कुछ लोग आकाश नहीं मानते। वे *'खला मोहाल'* अर्थात् शून्य असम्भव कहते हैं, पर उन्हींके भाई समकक्ष मुमकिन अर्थात् असम्भव होना स्वीकार करते हैं।——थरमामीटर आदि शीतोष्ण-परीक्षक यन्त्र एक ओर बंद करनेसे उसमें पारा ऊपर चढ़ता है, बीचमें वायु नहीं है, तब उसमें पारा कैसे चढ़ता है? इसका समाधान आकाशतत्त्व माननेसे ही होगा। इसी तरह पृथ्वीमें खूँटा ठोकनेसे मिट्टी कहाँ चली जाती है यदि आकाश नहीं है?

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावै कोई॥ ४॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा॥ ५॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई॥ ६॥

अर्थ—बिना श्रद्धाके धर्म नहीं होता, क्या बिना पृथ्वी-(तत्त्व-) के कोई गन्ध पाता है?॥ ४॥ बिना तपके तेजका विस्तार कौन एवं क्या कोई कर सकता है? क्या जल-(तत्त्व-) के बिना संसारमें रस हो सकता है?॥ ५॥ क्या पण्डितजनकी सेवा बिना शील मिल सकता है? अर्थात् नहीं। जैसे कि हे गुसाईं! बिना तेज-(अग्नि-तत्त्व-) के रूप नहीं हो सकता॥ ६॥

नोट—१ *'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई'* इति। वेद-शास्त्रों और पूज्य तथा आप्त पुरुषोंके वचनोंमें भक्ति 'श्रद्धा' है। समस्त धर्मोंके लिये श्रद्धा आवश्यक और अत्यन्त हितकारक है, श्रद्धासे मनुष्य इहलोक और परलोक प्राप्त करते हैं। श्रद्धासे पत्थरकी भी पूजा करे तो वह भी फलप्रद होती है। मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, गुरु आदिमें जैसी भावना होती है, वैसा ही फल मिलता है। यथा—'**श्रद्धा सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः। श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी॥**' (स्कन्दपु० ब्रह्मोत्तरखण्ड अ० १७। ३-४),......'**मन्त्रेतीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी॥ ८॥**' जहाँ रुचि होती है वहीं श्रद्धा उत्पन्न होती है। क्योंकि 'अमुक साधन अपने अभिमत कार्यको सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वासके साथ जो साधनमें शीघ्रता होती है, उसका नाम श्रद्धा है। मनुष्य जैसी श्रद्धासे युक्त होता है, उसीके सदृश फलका भोगी होता है। यथा—'**यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**' (गीता १७। ३) कहनेका अभिप्राय यह है कि फलके संयोगमें श्रद्धा ही प्रधान है। यदि मनुष्य पुण्यकर्मविषयक श्रद्धासे युक्त होता है तो पुण्यकर्मके फलका भागी होता है। इसीसे धर्म-कर्मोंका करना जहाँ-जहाँ कहा गया है वहाँ-वहाँ उनका आदरपूर्वक अर्थात् श्रद्धासे करना कहा गया है। यथा—*'भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥'* (१। १८९), *'भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करै सादर सनमाने॥'* (१। १५५) *'श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सब सादर कीन्ह।'* (२। २४७)

यदि पुण्यकर्मविषयक श्रद्धा मनमें नहीं है अथवा कर्ममें अश्रद्धा है तो उस पुण्यकर्मके करनेका फल भी कुछ नहीं होगा। यही बात भगवान्ने गीतामें '**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥**' (१७। २८) इन शब्दोंसे कही है। अर्थात् अश्रद्धासे किये हुए शास्त्रविहित भी हवन, दान, तपा हुआ तप इत्यादि जो भी कर्म किये जाते हैं वे 'असत्' कहलाते हैं, क्योंकि वे न तो यहाँ लाभदायक हैं और न मरनेके बाद ही। अर्थात् वे न तो मोक्षके लिये उपयोगी होते हैं और न सांसारिक फलके लिये ही।

रा० शं० श०—श्रद्धाको पृथ्वी कहा, क्योंकि पृथ्वी सबको उत्पन्न करती है। श्रद्धासे ही धर्ममें प्रवृत्ति होती है। धर्मका सम्बन्ध यज्ञादिसे है जो गन्धमय हैं, इसीसे धर्मको गन्ध कहा।

सि० ति०—'पृथ्वीमें गन्धगुण है, उससे सबकी वासना-पूर्ति होती है। वैसे ही श्रद्धापूर्वक धर्मसे सब प्रकारकी वासनाएँ पूरी होती हैं।'

वै०—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।......।'* वाच्यार्थ यह है कि—'श्रद्धा बिना यथा धर्म नहीं होता, पुनः पृथ्वी बिना यथा कोई गन्ध नहीं पाता, यथा बिना तपके तेज नहीं बढ़ता, तथा बिना जलके संसारमें कोई रस नहीं पाता इत्यादि।' भावार्थ यह है कि जब जीव श्रद्धा करके अनेक भाँतिका परिश्रम करता है तब सुधर्मका पूर्ण निर्वाह होता है, जीव स्व-इच्छित उधर जाता है, कोई ले जानेवाला नहीं, वैसे ही भवसागरको अपनी इच्छासे जाता है; देखिये बिना पृथ्वी कोई गन्ध नहीं पा सकता। अर्थात् पृथ्वीतत्त्वकी इन्द्रिय नासिका है जिसका विषय गंध है। जब जीव गन्ध-विषयमें आसक्त हो पृथ्वी-आवरणमें पड़ता है तब विषयवश हो जाता है, उसके ज्ञानका नाश हो जाता है, जिससे वह स्वयं भवसागरमें गिरता है।

प० प० प्र०—'*श्रद्धा बिना*……' इति। यहाँ आकाशके पश्चात् वायु आदिको क्रमशः न लेकर पृथ्वीका दृष्टान्त देकर और श्रद्धाका वर्णन करके सूचित करते हैं कि जैसे आकाश सबसे सूक्ष्म और पृथ्वी सबसे स्थूल भूत है उसी प्रकार ब्रह्म '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' है, जैसे इन दोनोंकी सबमें समबुद्धि है वैसे ही जीवमात्रमें हमारी समबुद्धि होनी चाहिये।

श्रद्धाको पृथ्वीका दृष्टान्त देनेमें भाव यह है कि जैसे पृथ्वीमें निज गुण गन्धसहित अन्य चारों भूतोंके गुण भी स्वाभाविक ही हैं, वैसे ही सात्त्विक श्रद्धासे ही विज्ञान और समतातकके सभी आवश्यक सद्‌गुणोंकी प्राप्ति हो जायगी। यह क्रम ज्ञान-दीपकमें स्पष्ट किया है। श्रद्धासे धर्म, धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान और ज्ञानसे विज्ञान-(समता-) की क्रमशः प्राप्ति होगी। ये भी पाँच भूमिकाएँ हैं। प्रथम भूमिका श्रद्धाके प्राप्त होनेसे शेष चारोंकी प्राप्ति सुलभ है।

रा० शं० श०—(रस जलतत्त्वका गुण है, उसकी उत्पत्ति जलतत्त्वसे ही होती है। तपसे ही तेजकी प्राप्ति होती है। देखिये, '*भरत भवन बसि तनु तप कसहीं*' अतः उनका शरीर तेजसे संयुक्त हो गया था। यथा—'*देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बल मुख छबि सोई॥*' (२। ३२५। १) तपमें इन्द्रिय-निग्रह प्रधान है, जिससे मन निर्मल होता है। और जलका भी गुण निर्मल करना है। यह दोनोंमें साम्य है।

प० प० प्र०—१ '*बिनु तप*……' इति। 'तप' की अनेक व्याख्याएँ हैं। यथा—'**मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः।**', '**प्राणायामः परं तपः।**', '**सत्यमेव परं तपः।**' इत्यादि। पर सभीका अन्तर्भाव 'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है' इस एकमें होता है।

यहाँ जल और रसका दृष्टान्त भी सहेतुक है। जल निम्नगामी है और इन्द्रियाँ भी नीच विषयगामी हैं।—'*इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोगपर प्रीति सदाई॥*' (११८। १५) ब्रह्माजीने ही इनको ऐसा निर्माण किया है। यथा—**पराञ्चि ('बहिर्मुखविषयगामी') खानि (इन्द्रियाणि) व्यतृणत् स्वयम्भूः** (ब्रह्माजीने निर्माण किया है) इति श्रुतिः। मानसमें भी कहा है—'*इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥*'

२ इस दृष्टान्तसे सूचित करते हैं कि बिना तप-(शम, दम, तितिक्षा, उपराम-) के विज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है। रस और जलमें मृदुता और शीतलता स्वाभाविक है। उसी प्रकार तपसे अन्तःकरण जलके समान निर्मल, कोमल और शीतल होना चाहिये। अन्यथा तपसे क्रोधाग्निका बढ़ना सम्भव है। इसीसे '**अक्रोधस्तपसः**' अर्थात् अक्रोध तपका भूषण कहा गया है। इसका साधन अगली अर्धालीमें है।

वै०—जीव स्व-इच्छित ही तप करता है कि तेज बढ़े। ब्रह्मादिक सबने तप किया। वैसे ही भवमार्गमें वह स्व-इच्छित पड़ता है, बिना जलके रस कभी नहीं होता। जलतत्त्वकी इन्द्रिय रसना अपने विषय-रसमें पड़कर जीवको अज्ञानी बना देती है। इसी तरह परमार्थमें बुधकी सेवा अपनी इच्छासे करता है, तब कुछ उनकी शिक्षासे, कुछ उनकी रीति-रहस्य देखनेसे, वह भी शीलमान् हो जाता है। वैसे ही अग्नितत्त्वकी इन्द्रिय नेत्र अपने विषय रूपमें जब आसक्त होती है तब जीवकी चैतन्यता नाश हो जाती है; जीव स्वयं उस ओर जाता है।

रा० शं० श०—'*सील कि मिल बिनु*……' यहाँ बुधको तेज कहा और तेज अग्निका गुण है अर्थात् बुध अग्नि हैं,

यथा—'*धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥*
सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥'

शीलको पताका कहा है, '*सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका*' जैसे पताकासे वीरका लक्ष्य होता है ऐसे ही रूपसे मनुष्य पहिचाना जाता है।

प० प० प्र०—'*सील कि*……' इति। बिना शीलके तपसे शीतलता, निर्मलता आदिकी प्राप्ति न होगी। अतः शीलप्राप्तिका साधन बतलाते हैं। 'जड़' का विरुद्धार्थी 'बुध' है, यह '*जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे*'

इस वाक्यसे स्पष्ट है। और, *'दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥'* इस श्रीवचनामृतमें जड़के विरुद्ध गुरु साधु हैं। अतः **'बुध=गुरु, साधु, ज्ञानी, हरिभक्त।'** इनकी सेवासे शीलकी प्राप्ति होती है।

रूप नेत्रेन्द्रियका विषय है। रूपमें सबसे बड़ा प्रलोभन मायारूपी नारि है, जिसे देखकर मुनि भी विवश हो जाते हैं। बिना बुध—संत, गुरु, कृपाके इससे बचना असम्भव है। तपश्चर्यामें मुख्य बाधक यही है। इसीसे रूपका विचार तपके अनन्तर किया गया। इस विकारको जीतनेकी शक्ति संतसेवाजनित तेजसे मिलती है। संतसेवा बड़ा तप है। **'सततं शीलं परं भूषणम्।'** शीलमें स्त्री-विषयसे बचना मुख्य गुण है। स्त्री जैसी रूपकी नेत्रेन्द्रियका मुख्य विषय है वैसा स्पर्शेन्द्रियका भी। अतः अगली अर्धालीमें स्पर्शविषयक सिद्धान्त कहते हैं।

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा॥ ७॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरिभजन न भवभय नासा॥ ८॥

अर्थ—**'निज सुख'** (निजानन्द, स्वस्वरूपानन्द, आत्मसुख) बिना क्या मन थिर (शान्त) हो सकता है? क्या पवन-(तत्त्व-) के बिना स्पर्श हो सकता है?॥ ७॥ क्या बिना विश्वासके कोई भी सिद्धि हो सकती है? (कदापि नहीं। इसी प्रकार) बिना हरिभजनके भवभयका नाश नहीं हो सकता॥ ८॥

नोट—१ *'निज सुख बिनु……समीरा'* इति। (क) मन बड़ा चञ्चल है, यथा—*'पीपर पात सरिस मन डोला।'* (२। ४५। ३), *'मन बस न समीर'* (वि०)। श्रीअर्जुनजीने भी भगवान्‌से यही बात कही है। यथा—**'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥'** (६। ३४) (अर्थात्) 'हे कृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल है, इसका एक जगह स्थापित करना मनुष्यके लिये बड़ा कठिन है, यह प्रमथनशील है, यह मनुष्यको बलपूर्वक मथकर विषयान्तरोंमें निर्बाधरूपसे विचरने लगता है। अपने अभ्यस्त विषयोंमें भी सदा स्थिर न रहनेवाले मनको विपरीताकार आत्मामें स्थापित करनेके लिये रोकना तो मैं वैसा ही अति कठिन मानता हूँ, जैसा प्रतिकूल गतिवाले महान् वायुको पंखे आदिसे रोक रखना।' भगवान्‌ने उनसे सहमत होते हुए उसके वशमें करनेका उपाय बतलाया है। यथा—**'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥'** (६। ३५) (अर्थात्) निस्संदेह मन चञ्चल और दुर्निग्रह है तथापि अभ्यास और वैराग्यसे वह वशमें किया जा सकता है। इसकी प्रबलता और विषयलोलुपता विनयमें बारंबार कहकर उसके वश होनेके उपाय भी बताये हैं। यथा—*'हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै। तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥'* (वि० ८९) *'बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।……कृपा डोरि बंसी पद अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो। एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक नाथ तिहारो॥'* (वि० १०२), *'मन मधुपहि पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।'* (वि० १०५), *'ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल-रूप बिषय कारन निसि-बासर धावै।'* (वि० ११६), *'जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं।'* (वि० १२३)

यहाँ मनके स्थिर होनेका उपाय *'निज सुख'* बताया। इसीको विनयमें इस प्रकार कहा है—*'निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ। निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‍यो।'* (वि० १३६) स्वस्वरूपानन्दप्राप्तिपर क्या दशा होती है यह भी उसी पदमें बताया है—*'श्रीरघुनाथ चरन लय लागे। देह जनित बिकार सब त्यागे॥ तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे॥* छंद॥ *अनुराग जो निज रूप त जग तें बिलक्षण देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निर्मम निरामय एकरस तेहि हरष सोक न व्यापई। त्रैलोक्य पावन सो सदा जा कहुँ दसा ऐसी भई॥'*

(ख) स्पर्श पवनतत्त्वका गुण है। अतः वह बिना पवनतत्त्वके प्राप्त नहीं हो सकता।

प० प० प्र०—१ आत्मसुखप्राप्तिका एक सुलभ साधन योग है। मन पवनसे भी अधिक चञ्चल है। पर गुरुकृपासंयुत पवनजय करनेसे मनोजय होता है। यथा—*'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान*

कबहुँक पावहीं।' (४। १० छन्द) इससे यहाँ पवनका दृष्टान्त दिया। समीरको जीतनेसे वही पावनता देनेमें समर्थ होता है। 'पवन-विजय' नामक योगशास्त्रका एक ग्रन्थ भी है। २ स्रक्, चन्दन, वनितादिक स्पर्शेन्द्रियके भोग हैं। मन स्थिर करनेसे इनमें आसक्ति नहीं होती। मनको वश करना भी निजसुख-प्राप्तिका साधन है। यथा—*'पस्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा।'* (३। ३२) पर मनके सदा वशमें रहनेका साधन *'निज सुख'* ही है। दोनों विवेक और वैराग्यके समान परस्पर पोषक हैं। तथापि ऊपर कहे हुए सब साधन जिस एक नींवपर खड़े होते हैं उसका विचार अगली अर्धालीमें है।

सि० ति०—जीवके स्वस्वरूप-प्रयुक्त सुखको ब्रह्मानन्द कहा गया है, जो उपासनाद्वारा प्राप्त होता है। यथा—*'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभुपद प्रीति।'* (१५) इसीको नित्य सुख एवं आत्मसुख भी कहते हैं।

रा० शं० श०—निज सुखकी प्राप्तिसे मन स्थिर रहता है और उसके विस्मरण होनेसे चञ्चल हो जाता है, इसी तरह पवनके स्थिर रहनेसे जल इत्यादि सब स्थिर रहते हैं और पवनके चलनेसे उसके धक्केसे जल इत्यादि सब चञ्चल हो जाते हैं। निज सुखकी समता पवनसे दी गयी; क्योंकि शरीरमें प्राण जो मुख्य वस्तु है वह पवन ही है और अन्तर्दृष्टिसे सहज स्वरूप भी मुख्य है, अतएव पवनकी समता दी गयी।

नोट—२ *'कवनिउ सिद्धि—'* इति। विश्वास=वह धारणा जो मनमें किसी व्यक्तिके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता आदि अथवा किसी सिद्धान्त आदिकी सत्यता या उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है। बिना विश्वासके किसी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यथा—**'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥'** (बा० मं०), *'गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥'* (१। ८०। ८), *'बिनु बिस्वास भगति नहिं।'* (९०) विश्वाससे सिद्धि होती है। यथा—*'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥'* (वेदस्तुति दोहा १३) इसीसे विश्वासपर यत्र-तत्र बहुत जोर दिया गया है। यथा—*'बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।'* (३। ३६), *'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥'* (३। ४२। ५), *'कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास। गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥'* (१०३), *'मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहि प्रयास। जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥'* (१२६) (शिववाक्य)। भुशुण्डिजीका यह निज अनुभव भी है। इनको श्रीरामजीके चरणोंमें अटल विश्वास था तभी तो लोमशजीने उनको अनेक आशीर्वाद दिये और उनका मनोरथ सिद्ध किया। यथा—*'रिषि मम महत सीलता देखी। राम चरन बिस्वास बिसेषी॥'* (११३। ४)………*हर्षित राममंत्र तब दीन्हा।……'* इत्यादि।

प० प० प्र०—भगवान् राम ही परमेश्वर परमात्मा ब्रह्म हैं। वे ही कृपा करें तो जीवके त्रितापादि छूटते हैं। वे कृपालु हैं, हेतुरहित उपकार करनेवाले तथा कृपानिधान हैं। वेद, स्मृति और पुराण सत्य हैं, वे कपोलकल्पित नहीं हैं। इत्यादि भावना ही विश्वास है।

'कवनिउ सिद्धि—' कहकर *'बिनु हरिभजन……'* कहनेका भाव यह है कि जैसे विश्वास सभी साधनोंका मूल है, वैसे ही हरिभजन, हरिशरणागति भी समस्त साधनोंके साथ होनी ही चाहिये। अन्यथा 'सिद्धि' (*'साधन सिद्धि राम पग नेहू'*) की प्राप्ति नहीं। आगे दोहेमें यही भाव अधिक स्पष्ट किया है। यह अर्धाली 'पुरइन' है और *'बिनु बिस्वास…… बिश्राम'* यह दोहा उसका फूल कमल है।

नोट—३ *'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा'* उपक्रम है और *'बिनु हरिभजन न भवभय नासा'* उपसंहार है। ☞ उपक्रम और उपसंहारमें जो बात कही उस सिद्धान्तकी पुष्टि पाँचों तत्त्वों और उनके गुण और मात्राओंके दृष्टान्त, उपक्रम-उपसंहारके बीचमें देकर की। *'कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ', 'बिनु महि गंध कि पावइ कोई', 'जल बिनु रस कि होइ संसारा', 'जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई',* और *'परस कि होइ बिहीन समीरा'* इनमें क्रमसे आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि और पवनतत्त्व और उनके अवकाश, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श—ये निज गुण कहे।

करु०—*'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा।——नासा'* इति। *'बिनु बिज्ञान कि समता आवै'* इत्यादि उपर्युक्त चौपाईयोंका अभिप्राय यह है कि श्रवण-इन्द्रियका देवता आकाश और विषय शब्द है, श्रवण अपने देवताका ही विषय ग्रहण करता है। त्वक्-इन्द्रियका देवता पवन और विषय स्पर्श है, त्वक् अपने देवताके विषयहीको ग्रहण करता है। इसी तरह नेत्र अपने देवता सूर्यके विषय रूपको, रसना अपने देवता वरुणके विषय रसको और नासिका अपने देवता अश्विनीकुमार-(महीसंयुक्त-) के विषय गन्धको ही ग्रहण करती है। अपने इष्टदेवताको छोड़ ये इन्द्रियाँ दूसरेके इष्ट देवताको नहीं ग्रहण करतीं। ये इन्द्रियाँ ऐसी पतिव्रता हैं। ठीक इसी प्रकार जीवके इष्टदेवता श्रीरामचन्द्रजी हैं जिनका विषय रामभक्ति है। जीवका कल्याण अपने देवताका विषय ग्रहण करनेमें ही है, अन्यसे नहीं। पर यह जीव पातिव्रत्य छोड़ व्यभिचारी हो गया, इसने अन्य देवताओंके विषयोंको ग्रहण कर लिया, अपने देवता श्रीरामजीके विषयको छोड़ दिया; इसीसे अनेक योनियोंमें चक्कर खाता फिरता है।—यह इन दृष्टान्तोंका तात्पर्य है।

वै०—जीव स्वेच्छासे दुःख सहकर महाचञ्चल मनको स्थिर कर लेता है, वैसे ही स्व-इच्छासे वह भवमें पड़ता है, क्योंकि पवन बिना स्पर्श हो ही नहीं सकता। जब जीव पवनावरणमें पड़ता है तब स्पर्श-विषयमें पड़कर भवको जाता है। ☞*'थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा'* से यहाँतक यह दिखाया कि जीव जैसे अपनी इच्छासे शब्दादि पञ्चविषयोंका सेवन कर भवसागरको जाता है, यथा—'**पतङ्गमातङ्गकुरङ्गभृङ्गा मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च। एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥**' वैसे ही वह यदि बुध सेवा इत्यादि करे तो उसमें शील, तेज आदि गुण उत्पन्न हों, तब शुद्ध शरणागतिमें विश्वास कर भजन करे, क्योंकि बिना विश्वास कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इससे सहज ही भवनाश हो जायगा। यह गुप्त भावार्थ हुआ। और वाच्यार्थ यह है कि जैसे उपर्युक्त १३ बातें अटल सिद्धान्त हैं वैसे ही यह अटल सिद्धान्त है कि *'बिनु हरिभजन न भवभय नासा।'*

नोट—४ इन दृष्टान्तोंसे दिखाया कि जैसे अवकाशादि बिना आकाशादिके हो ही नहीं सकते, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालमें यह सत्य और निश्चित सिद्धान्त है, वैसे ही भवभयका नाश, कामादिका मिटना, सुखका होना इत्यादि सब बिना रामभजनके सर्वथा त्रिकाल और त्रिलोकमें असम्भव है।—दृष्टान्तोंका आशय यह है।

प्रश्न—१ विज्ञान और आकाश, श्रद्धा और महि, तप और जल, बुधसेवा और तेज, निजसुख और समीरमें क्या कोई सादृश्य है, जिससे ये उदाहरण दिये गये?

२—क्या श्रद्धा, तप, बुधसेवकाई और निजानन्दमें ऐसा कोई सम्बन्ध है, जैसा कि क्षिति, जल, पावक और समीर तत्त्वोंमें परस्पर है?

३—यहाँ जो तत्त्वोंका क्रम दृष्टान्तोंमें है, क्या इसमें कोई विशेष भाव है, जैसा कि किष्किन्धा और सुन्दरमें महानुभावोंने कहा है?

उत्तर—किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंमें पञ्चतत्त्वोंकी जो चर्चा है उसमें भी शरीररचना या सृष्टिरचनाका विचार नहीं है। दोनों जगह केवल उत्तरोत्तर सूक्ष्मता वा स्थूलताका क्रम रखा गया है। प्रस्तुत प्रसंगमें वैसा कोई क्रम नहीं है केवल अविनाभाव दिखलाया गया है। यहाँ विनोक्ति अलंकारके साथ दृष्टान्त दिये गये हैं। दृष्टान्त स्वभावसे ही दिये जाते हैं। यहाँ शान्तरस है, इसलिये दृष्टान्त भी तदनुकूल दिये गये हैं। यदि आकाश और विज्ञान दोनोंमें निर्लेपत्व, श्रद्धा और पृथिवीमें आधारत्वका सादृश्य है तथा मन और समीरमें चञ्चलत्व और सूक्ष्मत्वका सादृश्य देखा जाता है तो यह विशेष सौष्ठव है, जिसका होना प्रत्येक विनोक्तिके साथ आवश्यक नहीं है और न किसी विशेष क्रमका निर्वाह आवश्यक है।

वि० त्रि०—*'कवनिउ सिद्धि——भवभय नासा'* इति। *'बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा'* से उपक्रम करके *'बिनु हरि भजन न भवभय नासा'* से उपसंहार करते हैं। यह क्लेशनाश, भक्ति-दार्ढ्य, ज्ञान, सुख, समता, धर्म, तेज, शील, मनोनिग्रह, सिद्धि तथा भवभयनाश कैसे होता है, इस विषयमें भुशुण्डिजीने अपना

अनुभव कहकर यह दिखलाया कि प्रभुके इतना कहते ही कि *'जानब तुम्ह सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहि साधन खेदा॥'* मेरी आँख खुल गयी और बिना साधन किये सबका मर्म मुझे प्रतिभास होने लगा।

सि० ति०—विज्ञान होना चित्तका धर्म है। यथा—**'योगो विरागः स्मरणं ज्ञानं विज्ञानमेव च। उच्चाटनं तथा ज्ञेयं चित्तस्यांशानि षड् यथा॥'** (जिज्ञासापञ्चक), समता भी चित्तमें ही कही जाती है। यथा—***'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटि बनाइ।'*** (११७), आकाशके सहायसे चित्तकी निष्पत्ति भी कही गयी है, यथा—**'वायोः सकाशाच्चित्तं च नभोंऽशाच्च प्रवर्तते।'** (जिज्ञासापञ्चक), इसलिये आकाशके दृष्टान्तके साथ विज्ञानद्वारा चित्तमें समता प्राप्त करना कहा गया है।

बुद्धिके द्वारा श्रद्धासमेत धर्म होते हैं, यथा—**'जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥'** (जिज्ञासापञ्चक)। बुद्धिकी निष्पत्ति पृथ्वी-तत्त्वके साहाय्यमें कही गयी है, यथा—**'बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।'** (जिज्ञासापञ्चक), इसलिये पृथ्वीके दृष्टान्तद्वारा श्रद्धापूर्वक धर्मद्वारा बुद्धिको शुद्ध करना कहा गया है। तपस् अग्निका नाम है, अग्निके साहाय्यमें अहंकारकी निष्पत्ति कही गयी है, यथा—**'अहंकारोऽग्निसंजातः'** (जिज्ञासापञ्चक), अहंकार शरीरका होता है, वह जल-तत्त्वके रसगुणद्वारा रसनासे विविध रसोंसे पोषित शरीरके द्वारा विकारको प्राप्त होता है। इसलिये इसकी शुद्धिके लिये जलतत्त्वके दृष्टान्तद्वारा तपसे शुद्ध होना कहा गया है कि तपसे इन्द्रियनिग्रह होकर तेजविस्तार होनेपर देहाभिमान नाश होगा। फिर शुद्ध हृदय होनेपर बुधोंकी सेवाद्वारा सद्‌वृत्ति प्राप्त होती है। मन वायुकी तरह चञ्चल है। इससे इसे वायुके दृष्टान्तके द्वारा आत्मसुखसे शान्त होना कहा गया है।

इस तरह यहाँ अन्तःकरण-चतुष्टयका साधन भी कहा गया है कि 'आकाशकी तरह चित्तमें अवकाशत्व, पृथ्वीमें गन्धकी तरह बुद्धिमें वासना, अहंकारमें अग्निकी-सी उष्णता और मनमें वायुकी-सी चञ्चलता स्वाभाविक है, पर ये सब इन-इन साधनोंसे शुद्ध हो जाते हैं।'

स्वामी प्रज्ञानानन्दजीके विचार उपर्युक्त चौपाइयोंमें आ चुके हैं।

दो०—बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम॥
सो०—अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर* करुनाकर सुंदर सुखद॥९०॥

अर्थ—बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्तिके बिना श्रीरामजी द्रवीभूत नहीं होते (नहीं पसीजते वा कृपा करते) और रामकृपाके बिना (जाग्रत्‌की क्या कही जाय) स्वप्नमें भी जीव विश्राम नहीं पाता। हे मतिधीर! ऐसा विचारकर समस्त कुतर्कनाएँ और संशय छोड़कर, करुणाकी खानि सुन्दर और सुख देनेवाले रघुवीर रामको भजो॥ ९०॥

नोट—१ *'बिनु बिस्वास'* में कारणमाला और प्रथम विनोक्ति अलंकार है।

रा० शं० श०—यहाँ कहते हैं कि *'बिनु बिस्वास भगति नहिं'* और पूर्व भगवान्‌ने कहा है कि ***'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥'*** (४५) दोनोंका सामञ्जस्य **'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।'**(बा० मं० श्लो०) से हो जाता है। भगवान् शंकर विश्वासरूप हैं।

रा० बा० दा०—१ *'तेहि बिनु द्रवहिं न राम'* इति। श्रीरामजी विश्वास बिना प्रसन्न नहीं होते। समय-समयपर विश्वासकी परीक्षा ली जाती है। यथा—*'गरजि तरजि पाषान बरषि पबि प्रीति परखि जिय जानै। अधिक अधिक अनुराग उमग उर पर परमिति पहिचानै॥'* (वि० ६५), *'कानन भूधर बारि बयारि महाबिष ब्याधि दवा अरि घेरे। संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत मातु पिता हित बंधु न नेरे। राखिहैं राम कृपालु तहाँ*

* रनधीर—(का०)

हनुमानसे सेवक हैं जेहि केरे। नाक रसातल भूतलमें रघुनायक एक सहायक मेरे॥' (क० ७। ५०) इत्यादि जैसा कवितावली, विनय, दोहावली आदिमें कहा है, ऐसे ही अनेक संकटोंद्वारा परीक्षा होती है। उनमें उत्तीर्ण होनेपर प्रभु प्रसन्न होते हैं। २ *'जीव न लह बिश्राम'*, यथा—*'कहहिं बिमलमति संत बेद पुरान बिचारि अस। द्रवै जानकी कंत तब छूटै संसार दुख।'* (दो० १३६) (पूर्व कहा है कि *'कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।'* (८९) दोनों वाक्योंका सामञ्जस्य इस प्रकार होता है कि श्रीरामजीकी कृपा होती है तभी संतोष होता है, बिना उनकी कृपाके नहीं।)

रा० शं० श०—विश्रामका स्वरूप यह है कि भगवान् हृदयमें आवें। यथा—*'कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो॥ जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानतहूँ नहि जान्यो॥......निज हित नाथ पिता गुर हरि सो हरषि हृदय नहिं आन्यो॥'* ——(वि० ८८)

नोट—२(क) *'अस बिचारि'* अर्थात् जैसा ऊपर *'बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा'* से यहाँतक कहा गया उस प्रकार विचारकर। अर्थात् बिना हरिभजनके क्लेश नहीं मिटते, अतः हरिभजन ही कर्त्तव्य है यह समझकर। (ख) *'मतिधीर'* का भाव कि धीरबुद्धि ही विचार कर सकता है, दूसरा नहीं। प्रारम्भमें *'खगराई'* कहा अन्तमें *'मतिधीर'*, क्योंकि यह राजाका गुण है। (प्र० सं०) 'मतिधीर' विशेषण इस संवादमें गरुड़जीके लिये कई बार और भी आया है। यथा—*'बिहँसत ही मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर।'* (८२) *'सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥'* (११४। ५), *'तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेम सहित मतिधीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥'* (१२५) इन उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि बुद्धिके धीर (स्थिर) होनेसे ही यह विशेषण दिया जाता है। चाहे राजा हो, वीर हो अथवा कोई भी हो। यथा—*'पंथ जात सोहहिं मतिधीरा'* (मनु-शतरूपाजी), *'ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥'* (नारदजी), *'अस्तुति करत जोरि कर सावधान मतिधीर।'* (१। १८५) (ब्रह्माजी)' इत्यादि।

३ *'तजि कुतर्क संसय सकल'* इति। (क) यहाँ दो बातें त्याग करनेको कहीं, क्योंकि भुशुण्डिजीसे गरुड़जीने यही दो बातें कही थीं। यथा—*'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन।'* (६८) यही कुतर्क है, और *'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥'* (६९। १) यह संशय है। संशय भारी है अतः 'सकल' कहा। संशय यह कि ब्रह्मका अवतार सुना, पर ब्रह्मका प्रभाव तो इनमें कुछ देख नहीं पड़ा, ब्रह्म व्याकुल हो नहीं सकता, ये ब्रह्म नहीं जान पड़ते, मनुष्य ही जान पड़ते हैं—*'ब्रह्म अनादि मनुज करि माना।'* (९३। ३) देखो। कुतर्क यह है कि जिस परब्रह्मका नाम जपकर प्राणी भवपाशसे छूटते हैं वह एक तुच्छ निशिचरद्वारा बाँध लिया जाय यह कैसे सम्भव है? माया-मोहपार परम ईश्वर मायानागोंसे कैसे बाँधा जा सकता है? इत्यादि। यथा—*'करत बिचार उरग आराती।'* (५८। ६) से *'खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं॥'* (५९। २) तक। (ख) कुतर्क और संशय कार्य-कारण हैं। संशय होनेसे कुतर्क उठते हैं, यथा—*'संसयसर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥'* (९३। ६), अतः दोनोंका त्याग कहा।

४ *'भजहु राम रघुबीर'* इति। गरुड़जीने अपने मोह-प्रसंगमें 'राम' का नागपाशमें बँधना, 'राम' का विकल होना कहा है, यथा—*'खर्ब निसाचर बाँधेउ नाग पास सोइ राम'*, *'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन'*, अर्थात् परब्रह्म राममें मोह होना बताया। इसीसे यहाँ भुशुण्डिजीने प्रथम 'राम' पद दिया। फिर *'रघुबीर'* पद देकर जनाया कि वे 'राम' ही रघुकुलमें पञ्चवीरता धारण किये हुए अवतरित हुए हैं, इन्हींका भजन करो। ये ही निर्गुण और सगुण दोनों हैं। ये वीर हैं, इन्हें कौन बाँध सकता है? पर नरवेष धारण किया है। अतः नरनाट्य किया है। रघुवीर हैं, इनका भजन करनेसे ये कृपा करते हैं—*'भजत कृपा करिहहिं रघुराई।'* (१। २००। ६) क्योंकि करुणामय हैं— *करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई।'* (२। ८५। २)', *'बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥'* (२। ६६। ८),*'अनघ अनेक एक करुनामय।'* (३४। २) ऐसे वीरकी

उपासना करनी चाहिये। यथा—*'बीर महा अवराधिये साधें सिधि होइ। सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ॥'* (वि० १०८) *'करुनामय मृदु राम सुभाऊ।'* (२। ४०। ३) कृपा होनेसे सुख होता है अतः 'सुखद' कहा। [कृपाल और सुखद स्वभाव है और स्वरूप सुन्दर है। (पं०)]

नोट—५ विशेषणोंके क्रमका भाव। भुशुण्डिजीने जो विशेषण यहाँ दिये हैं वे उनके हृदयमें गड़े हुए हैं। मोह-प्रसंगमें प्रथम प्रभुकी प्रभुता देखी। प्रभुताके दर्शनमें आदिसे अन्ततक 'राम' नाम आया है, यथा—*'राम गहन कहँ भुजा पसारी'*, *'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं'*, इत्यादि। प्रभुताका दर्शन करनेपर व्याकुल देख प्रभुने कृपा की तब *'रघुबीर'* अर्थात् दयावीरतासम्बन्धी नाम दिया, यथा—*'देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।'* फिर दीन जानकर दया की, सिरपर हाथ रखा—यह करुणा है। विगत-मोह करके फिर सुख दिया तब *'सेवक सुखद'* कहा, यथा—*'दीनदयाल सकल दुख हरेऊ'*, *'कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक सुखद कृपासंदोहा॥'* सुखदका प्रसंग आगेतक है। दुःखमें थे, अतः वहाँ पहले *'सुखद'* कहकर तब सुख होनेपर अन्तमें शोभासुख कहा, यथा—*'प्रभु सोभासुख जानहिं नयना।'* (८८। ४) और यहाँ दुःख तो है नहीं अतः *'सुंदर सुखद'* अर्थात् सौन्दर्य कहकर तब सुखद कहा। बस जैसा मोहप्रसंगमें अपना अनुभव किया ठीक वैसे ही क्रमसे उसी भावसे विशेषण देते गये।

उपसंहार		उपक्रम	
९० (८)	*'बिनु हरिभजन न भवभयनासा*	१ *बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा*………	८९ (५)
९०	*जीव न लह बिश्राम*	२ *कोउ बिश्राम कि पाव*………।	(८९)

☞ उपक्रममें *'सहज संतोष बिनु'* विश्रामका होना असम्भव कहा और उपसंहारमें *'रामकृपा बिनु'* उसका होना असम्भव कहा। इससे जनाया कि सहज संतोष रामभजनसे ही प्राप्त होता है।

'रामकृपा बिनु सपनेहु……अस बिचारि मतिधीर ३ रामकृपा बिनु सुनु खगराई। ८९। ६।

अनुभव-कथन करनेमें *'रामकृपा बिनु'* का सम्पुट है। प्रारम्भमें *'रामकृपा बिनु सुनु खगराई'* और अन्तमें भी *'रामकृपा बिनु सपनेहु……'* कहकर रामकृपाहीको प्रधान सूचित किया। यह *'निज अनुभव'* का उपक्रमोपसंहार है।

निज अनुभव-प्रसंग समाप्त हुआ।

निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु प्रताप महिमा खगराई॥ १॥
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी। यह सब मैं निज नयनन्हि देखी॥ २॥

अर्थ—हे पक्षिराज! हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार प्रभुके प्रतापकी महिमा एवं प्रताप और महिमा, कही॥ १॥ मैंने कुछ विशेष युक्तिसे बढ़ाकर नहीं कहा है। यह सब मैंने अपनी आँखों देखा है॥ २॥

नोट—१ *'निज मति सरिस।'* भाव कि महिमा अमित है, अपार है, अनन्त है, कोई पूरा कह ही नहीं सकता, इत्यादि—अपनी-अपनी बुद्धिभर ही लोग कहते हैं। यही आगे कहते हैं। मिलान कीजिये—*'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥'* (१। ११४। ५), *'मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु।'* (१। १२०), *'तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही।'*, *'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।'* (१। ४३)

वि० त्रि०—*'निज मति……खगराई'*—प्रभुकी महिमा ऐसी है कि जिसने अपनी आँखों देखा है, उससे भी कहते नहीं बनता; क्योंकि महिमा-दर्शनमें जिन विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, उनके लिये शब्द नहीं है, कैसे कहा जाय। भुशुण्डिजी कहते हैं, *'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवन बिधि जाइ॥'* भुशुण्डिजीने उस महिमाको अपनी आँखों देखा, परंतु वर्णन करते समय यही कहना पड़ा कि *'निज मति सरिस नाथ मैं गाई।'*

नोट—२ *'प्रभु प्रताप महिमा'* इति। रामभजनसे माया डरती है, काम मिटता है, भवभय नाश होता

है और सुख प्राप्त होता है—यह प्रताप है। भुजाको सर्वत्र देखा, उदरमें अनेक ब्रह्माण्ड और उनमें अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेशोंको प्रभुकी सेवा करते देखा—यह सब महिमा है। सबका आँखों देखना कहते हैं। प्रतापका देखना *'जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ'* में आ गया। जैसे कि देखा कि माया सभीत खड़ी है, यह प्रताप है।

३ *'कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी।——'* इति। (क) श्रीरामजी अपने इष्ट हैं, उपास्यदेव हैं, अतः यह संदेह हो जाना सम्भव है। अतः संदेह-निवृत्यर्थ ये वचन कहे। सुनी हुई बातके सत्य होनेमें संदेह हो सकता है, अतः कहा कि यह मेरी देखी है। देखी हुई प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसमें संदेह नहीं हो सकता। 'युक्ति' एक अलंकार है, जिसमें अपने मर्मको छिपानेके लिये दूसरेको किसी क्रिया, चातुरी या तरकीबद्वारा वञ्चित करनेका वर्णन होता है। 'युक्तिविशेष' का भाव कि मैंने काव्यालंकारकी रीतिसे बढ़ाकर कुछ-का-कुछ नहीं कहा है, बल्कि जैसा था ठीक वैसा ही कहा है।

☞ *'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथा मति——॥'* (७४। १) उपक्रम और *'निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु प्रताप महिमा खगराई॥'* उपसंहार है। १७ दोहोंमें प्रभुताका वर्णन है।

महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥ ३॥
निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥ ४॥
तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अंता॥ ५॥
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी महिमा, नाम, रूप और गुणोंकी कथा सब अमित हैं तथा (स्वयं) श्रीरघुनाथजी अनन्त हैं॥ ३॥ मुनि अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार हरिगुण गाते हैं। वेद, शेष और शिव भी उनका पार नहीं पाते॥ ४॥ तुमसे लेकर मच्छड़पर्यन्त जितने (भी बड़े-छोटे) पक्षी हैं सब आकाशमें उड़ते हैं पर अन्त नहीं पाते॥ ५॥ इसी तरह, हे तात! श्रीरघुनाथजीकी अगाध महिमामें डुबकी लगाकर क्या कभी कोई थाह पा सकता है? अर्थात् नहीं पा सकता॥ ६॥

खर्रा—महिमा (ऐश्वर्यकी बड़ाई), नाम (राम-कृष्णादि), रूप (द्विभुज, चतुर्भुज, मत्स्य, कच्छपादि), गुण (सौशील्यादि) और गाथा (रावण-हननादिकी कथा)—यह सब अमित हैं, क्योंकि रघुनाथजी अनन्त हैं।

नोट—१ *'महिमा नाम——सकल अमित अनंत'* इति। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। यथा—*'राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥'* (५२। ३) *'राम अनंत-अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।'* (१। ३३), *'राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥'* (१। ११४। ३-४), *'हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित॥'* (१। १२०)

२—महिमा, नाम, रूप और गुणगाथा, इन्हीं चारोंकी व्याख्या आगे कहते हैं—

महिमा—*'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता——तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात——थाहा।'*

नाम—'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।'

रूप—'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहे।' (९२ छंद)

गुण—*'राम अमित गुन सागर थाह कि पावै कोइ॥ ९२॥'*, *'सारद सेष महेस बिधि——नेति नेति कहि जासु गुन——।'* (१। १२)

रा० प्र०—नामकी अनन्तता ऐसी कि नाम निर्गुण-सगुण सबका बोधक अर्थात् नामका भी नाम नहीं—*'निर्गुण नाम गुनै को भाई।'*

नोट—३ *'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं'* इति। चौ० १ में देखिये। भा० १। १८। २३ में श्रीसूतजीने ऋषियोंसे इसी प्रकार कहा है कि—'जो मुझे विदित है वह मैं यथामति कहता हूँ, जैसे पक्षिगण अपनी शक्तिभर आकाशमें उड़ते हैं वैसे ही विद्वान् लोग बुद्धिभर वर्णन करते हैं'—

'अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्।
नमः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥'

नोट—४ (क) निगम, शेष और शिवसे देव वा ईश्वरकोटिके एवं स्वर्ग और पातालके और मुनिसे पृथ्वीके, इस तरह तीनों लोकोंके वक्ताओंको असमर्थ दिखाया। यथा—'*सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥*' (१। १२) पुनः, भाव कि ये पार नहीं पाते तब और कौन पार पा सकता है?

मिलान कीजिये—'**नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।**
गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥'

—(भा० २। ७। ४१) अर्थात् ब्रह्माजी नारदजीसे कहते हैं कि तुम्हारे बड़े भाई सनकादिक, ये सब मुनि एवं मैं उस माया-बल-सम्पन्न पुरुषका अन्त जाननेको समर्थ नहीं हुए; तब जो हमारे पीछे उत्पन्न हुए वे जाननेको कैसे समर्थ हो सकते हैं। आदिदेव शेषजी भी हजार मुखोंसे नित्यप्रति हरिगुण-कीर्तन करते हुए आजतक अन्त नहीं पाते।

(ख)—'*नहिं पावहिं अंता*' इति। महाभारत शान्तिपर्वमें भृगुजी भरद्वाजजीसे कहते हैं कि—यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकों सिद्ध और देवता निवास करते हैं, इसीमें उनके लोक भी हैं। यह बड़ा ही रमणीय तथा इतना विशाल है कि कहीं इसका अन्त ही नहीं दिखायी देता। ऊपर जानेवालोंको और पृथ्वीके नीचे चन्द्रमा और सूर्य नहीं दिखायी देते। वहाँ अग्निके समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित रहते हैं, किंतु वे तेजस्वी नक्षत्रगण भी इस आकाशका अन्त नहीं पा सकते, क्योंकि यह अनन्त और दुर्गम है। आकाश ही नहीं, अग्नि, वायु और जलका परिमाण जानना भी देवताओंके लिये असम्भव है।

५ '*तुम्हहि आदि*......' इति। गरुड़के समान कोई बड़ा शीघ्रगामी और अधिक उड़ानवाला नहीं और मसकसे छोटा नहीं, अतः उनको आदिमें और इसको अन्तमें कहा। वह पक्षियोंमें बड़ेकी अवधि है और मसक सबसे छोटाईकी अवधि है।—'*मसक समान रूप कपि धरी*' इसीको '*अति लघुरूप धरेउ हनुमाना*' कहा है।

६ '*तिमि रघुपति महिमा*......' इति। भाव कि जैसे आकाशकी थाह कोई पाता नहीं, पर उड़ता है जहाँतक जिसकी सामर्थ्य है; वैसे ही सब मुनि और वेदादि चरितगान करते हैं, जितनी जिसकी बुद्धि है, अपनी वाणी सफल करनेके लिये, कुछ थाह पानेके लिये नहीं, वैसे ही मैंने '*निज मति सरिस*' कहा। यथा—'*सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥ तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥—बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥*' (१। १३। १—८)

राम काम सतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥ ७॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सतकोटि अमित अवकासा॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी अनन्त कामदेवोंके समान सुन्दर शरीरवाले हैं, अनन्त कोटि दुर्गाके समान असंख्यों शत्रुओंके नाशक हैं॥ ७॥ असंख्यों इन्द्रोंके समान उनका भोग-विलास है, असंख्यों आकाशोंके समान अनन्त अवकाश (विस्तार) वाले हैं॥ ८॥

नोट—१ पूर्व जो कहा कि '*तात कबहु कोउ पाव कि थाहा*' उसीको अब यहाँसे पुष्ट कर चले। यहाँसे महिमाकी अनन्तता दिखा रहे हैं, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि कोई थाह क्यों नहीं पा सकता। ब्रह्माण्डमें जिस गुणमें जो सबसे उत्कृष्ट है उसकी चुन-चुनकर उपमा देंगे। यथा—'*कामसे रूप प्रताप दिनेस से सोमसे सील गनेससे माने। हरिचंदसे साँचे बड़े बिधि से मघवा से महीप बिषयसुख साने। सुक-से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस तें अधिकाने॥*' (क० उ० ४३), '*सुरराज सो राज समाज समृद्धि बिरंचि धनाधिप सो धन भो। पवमान सो पावक सो जम सोम सो पूषन सो भवभूषन भो॥*' (क० उ० ४२) अन्तमें इन उपमाओंका सूर्यके लिये जुगुनूकी उपमाके समान अत्यन्त तुच्छ बताकर प्रभुको निरुपम सिद्ध करेंगे।

२ ☞कुछ ऐसा ही वर्णन सदाशिवसंहितामें आया है—(९२) छन्द भी देखिये।

'भानुकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिप्रमोदकम्। इन्द्रकोटिसदामोदं वसुकोटिवसुप्रदम्॥
विष्णुकोटिप्रतीपालं ब्रह्मकोटिविसर्जनम्। रुद्रकोटिप्रमदं वै मातृकोटिविनाशनम्॥
भैरवकोटिसंहारं मृत्युकोटिविभक्षणम्। यमकोटिदुराधर्षं कालकोटिप्रधावकम्॥
गन्धर्वकोटिसंगीतं गणकोटिगणेश्वरम्। कामकोटिकलानाथं दुर्गाकोटिविमोहनम्॥
सर्वसौभाग्यनिलयं सदानन्दैकदायकम्। कौशल्यानन्दनं रामं केवलं भवखण्डनम्॥
रुद्राणां स पती रुद्रो रुद्रकोटिनियामकः। चन्द्रादित्यसहस्राणि रुद्रकोटिशतानि च॥
इन्द्रकोटिसहस्राणि विष्णुकोटिशतानि च। ब्रह्मकोटिसहस्राणि दुर्गाकोटिशतानि च॥'

इसी तरह स्कन्दपुराण निर्वाणखण्ड, भरद्वाजसंहिता, अगस्त्यसंहितादिमें वचन हैं।

—[करु०—यहाँ प्रथम शृङ्गाररस कहकर फिर आगे शान्तरस कहा है।]

३ *'राम काम सतकोटि सुभग तन'* इति। (कामदेवके समान त्रिलोकीमें सुंदर और मोहनशक्तिवाला पुरुष नहीं है, दूसरे यह भी श्यामवर्ण है। ऐसे असंख्य कामदेव एकत्र हो जायँ तो भी प्रभुके सौन्दर्यके सामने ये ऐसे हैं जैसे सूर्यके सामने जुगुनू।—*'अंग अंग पर वारियहि कोटि कोटि सत काम।'* (१। २२०) जैसे राई मनुष्यपर निछावर की जाय वैसे ही ये राई-समान निछावरकी वस्तु हैं, उपमाकी नहीं। कहाँ राई, कहाँ मनुष्य! जब कामकी ही शोभाको कोई बखान नहीं कर सकता तब प्रभुकी शोभाकी थाह कौन पा सके?—*'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जान नहिं पाई॥'* (३। २। १२) (पां०—यह रूपका वर्णन है।)

४ *'दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन'* इति। शत्रुशालनमें वीररसके उदाहरणमें दुर्गादेवीसे बढ़कर शक्ति नहीं। दुर्गासप्तशतीमें उनकी परम शत्रुशालिनी शक्तिका वर्णन है। ऐसी अमितकोटि दुर्गाकी शक्ति एकत्र की जाय तो भी वह प्रभुकी शत्रुशालिनी शक्तिके सामने, सूर्यके सामने खद्योतवत् है। इनकी (श्रीदुर्गाजीकी) शक्ति त्रिदेवसे अधिक है, अतः जब इन्हींकी शक्तिकी थाह नहीं तब श्रीरामजीकी शक्तिकी थाह कौन पा सके?—(पां०—यहाँ वीरत्व कहा)

५ *'सक्र कोटि सत सरिस बिलासा'* इति। भोग-विलास-वैभवमें इन्द्रसे हद है (नोट १ देखिये); अतः उसकी असंख्यों इन्द्रोंकी उपमा कहकर उपर्युक्त रीतिसे उसका लघुत्व दिखाया। ☞इसी तरह आगे सब उपमाओंमें भाव समझ लें।

६ *'नभ सतकोटि अमित अवकासा'* इति। भाव कि जैसे बड़े-से-बड़े उड़ानवाले पक्षीको इस आकाशमें उड़नेके लिये स्थान मिलता है, उड़ता चला जाय, कभी अवकाशकी कमी नहीं होती, वैसे ही प्रभुके गुण-मति-अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शारदा और शेषादि जितने भी कहते जायँ उनका कभी अन्त न मिलेगा। जितना ही अपने सामर्थ्यभर निकट जाते हैं उतना ही वे अपनेको अधिक दूर पाते हैं, यथा—*'ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं त्यों त्यों दूर पर्यौं हौं।'* (वि० २६६) पुरुषसूक्तमें लिखा है कि—**'स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'** अर्थात् वह परमेश्वर सम्पूर्ण विश्वमें परिपूर्णरूपसे भरकर और भी दस अंगुल शेष रहता है। तात्पर्य कि वह आकाशके विस्तारसे भी बहुत बढ़कर है।

☞जिनके रोम-रोममें असंख्य ब्रह्माण्ड, जिनके उदरमें असंख्य ब्रह्माण्ड, उनके अवकाशकी कौन थाह पाये, एक-एक ब्रह्माण्डके अन्तर्गत आकाशका तो पता ही नहीं चल सकता कि उसका कितना अवकाश है।

दो०—मरुत कोटिसत बिपुल बल रबि सतकोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सुसीतल समन सकल भवत्रास॥
काल कोटिसत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सतकोटि सम दुराधरष भगवंत॥ ९१॥

शब्दार्थ—**दुरंत**=दुर्+अन्त। दुर् उपसर्गका प्रयोग इन अर्थोंमें होता है—(१) दूषण, बुरा (२) निषेध (३) दुःख वा कष्ट। **दुरंत**=अन्त जिसका नहीं। **दुर्गम**=दुःखसे जहाँ पहुँच हो, जिनकी प्राप्ति एवं जिनका समझना कठिन हो।=दुर्ज्ञेय। [ऊँचे ऐसे कि कोई लाँघ न सके। (पां०)] **दुस्तर**=जिससे पार पाना कठिन हो; विकट; न तरने योग्य। **दुराधर्ष**=जिसका दमन करना कठिन हो, अत्यन्त प्रबल।* यथा—'***रिपुबल धरषि हरषि कपि*** ·········।'—(लं० ३५)। [=जिसकी धारणा कठिन है। (करु०) **धूमकेतु**=अग्नि।]

अर्थ—असंख्यों पवनदेवोंके समान उनका विशाल बल है, असंख्यों सूर्यके समान प्रकाश है। वे असंख्यों चन्द्रमाके समान अत्यन्त वा सुन्दर (दुःखदायी न होनेवाले) शीतल और समस्त भवभयके शमन करनेवाले हैं, असंख्यों कालोंके समान अत्यन्त दुस्तर, दुर्गम और दुरन्त हैं। भगवान् अनन्त अग्निके समान दुराधर्ष और षडैश्वर्यमान् हैं॥ ९१॥

नोट—१ पवनके समान बलवान् कोई नहीं, यथा—'***पवनतनय बल पवन समाना।***' (४। ३०। ४) रविके समान तेज नहीं, यथा—'***रबि सम तेज सो बरनि न जाई।***' (९२। २) '***सुसीतल समन सकल भवत्रास***' का भाव कि चन्द्रमा तो केवल शरदातपको हरता है और यह तो भवतापको हरण कर लेते हैं, जो गुण चन्द्रमामें नहीं है।—'***सरदातप निसि ससि अपहरई।***' (४। १७। ६) पर उसकी शीतलता बहुतोंको दुःखद भी होती है और प्रभु 'सुशीतल' हैं। सु=अत्यन्त सुन्दर।

२—काल दुस्तर दुर्ग दुरंत है, यथा—'***अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥***' (९४। ८)

भगवान्‌को भी काल कहा गया है। यथा—'**सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः। जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम्॥**' (भा० ३। २९। ४५) अर्थात् वह काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरोंका आदिकर्ता और अव्यय है, वह स्वयं अनन्त होकर भी दूसरोंका अन्त करनेवाला है। वह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति कराता हुआ जगत्‌की रचना करता है और मृत्युके द्वारा मारता हुआ सबका अन्त करनेवाला है।—वह काल जिसका उल्लेख यहाँ है वह अनादि अखण्ड काल नहीं है। भगवान् तो इस कालके भी काल हैं। यथा—'***भृकुटि भंग जो कालहिं खाई।***' (लं० ६५। २), '***भुवनेस्वर कालहु कर काला।***' (सुं० ३९। १) वह तो सदा भगवान्‌से डरता रहता है। '***तव भय डरत सदा सोउ काला।***' (३। १३। ८) जब काल इतना दुर्ग-दुस्तर-दुरंत है तब उसके भी जो काल हैं उनका क्या कहना! सदाशिवसंहितामें भी कहा है—'**यमकोटिदुराधर्षं कालकोटिप्रधावकम्।**'

३—'***धूमकेतु सतकोटि*** ·········।' करालता रावणके इन वचनोंसे सिद्ध है—'***जुग षट भानु देखे प्रलय कृसानु देखे सेव मुख अनल बिलोके बार बार हैं।***' (क० ५। २०)

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटिसत सरिस कराला॥ १॥
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥ २॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा॥ ३॥
कामधेनु सतकोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥ ४॥

शब्दार्थ—'**पाताल**'—पृथ्वीके नीचे सात लोकोंमेंसे अन्तिम लोक पाताल है। ये भी सात माने गये हैं—अतल, बितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ये क्रमसे एकके नीचे दूसरा, इस प्रकार हैं। पातालसे नीचे फिर कोई लोक नहीं है, अतः अगाधता-(गहराईमें अथाह होने-) में इसकी उपमा दी जाती है।

अर्थ—प्रभु असंख्यों पातालके समान अथाह हैं, असंख्यों यमके समान कराल (भयंकर) हैं॥ १॥ उनका नाम अनन्तकोटि तीर्थोंके समान पवित्र एवं पवित्र करनेवाला और सम्पूर्ण पाप-समूहका नाशक है॥ २॥ रघुवीर

* खर्रा—१ 'दुस्तर दुर्ग दुरंत'। 'काल अखण्डदण्डायमान-जैसा होनेसे उसमें प्रवेशकर कोई उसे पार नहीं कर सकता।' दुराधर्ष='दुःख करके भी आधर्षण प्रवेशादिसे अयुक्त हैं।'

श्रीरामजी करोड़ों हिमाचलके समान अचल (चलायमान न होनेवाले, अटल) और अगणित समुद्रोंके समान गहरे हैं॥ ३॥ भगवान् श्रीरामजी असंख्यों कामधेनुके समान समस्त कामनाओंके देनेवाले हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) पातालके समान अथाह कोई वस्तु नहीं और पापियोंको दण्ड देनेमें यमके समान कोई कराल नहीं। यम जिस रावणका कुछ न कर सके, उस रावणको भी इन्होंने कालके हवाले किया।*

(ख) अगाध और गम्भीर साधारणतया पर्याय मान लिये जाते हैं, पर यहाँ पातालके सम्बन्धमें 'अगाध' और सिन्धुके साथ 'गम्भीर' कहकर दोनोंमें भेद प्रकट किया है। स्वभावके सम्बन्धमें 'अगाध' और 'गम्भीर' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है, यथा—'*कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥*' (बा० ५८। २) '*लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय बिसेषा। कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥*' (१। ५३। १-२) '*बोले घन इव गिरा गँभीरा।*' (६। ७४। १२) '*सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ज्ञानी॥*' (६। ११३। ३)

अगाध=अथाह। गम्भीर=गहरा पर अथाह नहीं। ये पर्याय नहीं हैं।

२ '*तीरथ अमित कोटि*......' इति। पृथ्वीपर तीर्थ साढ़े ३३ कोटि माने गये हैं और ब्रह्मा, इन्द्र, यमादि एक-ही-एक हैं, अतः उनके साथ '*कोटि सत*' 'कोटि' आदिका प्रयोग किया गया और तीर्थके साथ '*अमित कोटि*' अर्थात् कोटियों तो वे हैं ही, ऐसे ही अमित हों तो भी नामकी पावनता उनके समान कहना सूर्यको खद्योतसम कहनेके बराबर है।

वै०—'*हिमगिरि कोटि अचल*' अर्थात् भय, शंका, काम, क्रोधादि एक भी इनमें नहीं व्यापते, इनके तन-मन-वचन सभी अविचल हैं।

करु०—कामधेनु अर्थ, धर्म, काम तीन ही फल देती है, मोक्ष नहीं देती। श्रीरामचन्द्रजी सब देते हैं। शतकोटि कामधेनु क्यों कहा जब कि जो फल एक कामधेनु देगी वही फल शतकोटि देंगी? समाधान यह है कि एक असत्पद है और दूसरा सत् अर्थात् शतकोटि कहकर नित्य अखण्ड प्राप्ति दिखायी, एकसे नाशवान् अस्थिरका भाव समझा जाता है। [जैसे ऊपर और आगे भी कोटि, शतकोटि, अमितकोटि आदि कहकर उनसे अत्यन्त अधिक गुण दिखाया गया है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये।]

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई॥ ५॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटिसत सम संहरता॥ ६॥
धनद कोटिसत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना॥ ७॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥ ८॥

शब्दार्थ—**निधान**=आधार, आश्रय, स्थापन करनेवाले। **प्रपंच**=सृष्टि, जग-जंजाल, पञ्चतत्त्वोंका उत्तरोत्तर अनेक भेदोंमें विस्तार, मायाजाल।

अर्थ—असंख्यों शारदाओंके समान अमित चतुरता, असंख्यों ब्रह्माओंके समान सृष्टि-रचनाकी निपुणता॥ ५॥ करोड़ों विष्णुके समान पालनकर्ता और असंख्यों रुद्रोंके समान संहारकर्ता हैं॥ ६॥ असंख्यों कुबेरोंके समान धनवान् और करोड़ों मायाओंके समान माया-प्रपञ्चके आधार हैं॥ ७॥ असंख्यों शेषोंके समान (ब्रह्माण्डोंका) बोझ धारण करनेवाले हैं। (कहाँतक कहा जाय) जगत्के स्वामी प्रभु श्रीरामजी सीमा और उपमारहित हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) 'चतुराई' से वाणी और बुद्धिकी चतुरता अभिप्रेत है, क्योंकि शारदाजी वाग्देवी हैं। प्रभुकी वचन-रचनाकी प्रवीणता परशुराम-संवादसे सिद्ध है, परशुरामजी प्रधान दशावतारोंमेंसे एक हैं, इन्हें भी श्रीरामजीसे हार माननी पड़ी, इन्होंने प्रभुकी स्तुति '*जयति बचन रचना अति नागर*' इन शब्दोंसे की है।' (१। २८५। ३) देखिये। सृष्टिके रचयिता ब्रह्माजी हैं, इसीसे विवाहमण्डपकी रचनामें इनका स्मरण

* रा० शं०—'प्रभु अगाध' ऐसे कि दो ही पगमें चौदहों लोक ऊपरके नाप लिये, केवल इतनेहीकी आवश्यकता थी, यदि आवश्यकता और होती तो और बढ़ जाते।

किया गया है, यथा—'*बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलिके खंभा॥*' (१। २८७) और जहाँ भी सुन्दर अलौकिक रचनाका प्रसंग आता है वहाँ इनका ही नाम आता है, यथा—'*जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥*' (१। २२३। ७)

'रुद्र' संहारके देवता हैं; यथा—'**सकल लोकांत कल्पांत शूलाग्रकृत दिग्गजाव्यक्तगुण नृत्यकारी॥**·········**पाहि भैरवरूप रामरूपी रुद्र**·········।' (वि० ११)

'*मायाकोटि*·········' इति। भाव कि प्रभुका प्रकाश (सत्ता) पाकर उनकी आज्ञा, बल वा प्रेरणासे माया अनन्त प्रपञ्च (सृष्टि) रचती है। यथा—'*सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥*' (५। २१। ४) '*जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव*·········॥' (१। ११७। ८) '*लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥*' (१। २२५। ४) '*एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥*' (३। १५। ६) '*सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥*' (७२। २)

'*भार धरन सतकोटि अहीसा*' इति। शेषनागजी ब्रह्माण्ड अपने सिरपर धारण किये हैं और प्रभुके रोम-रोममें अगणित ब्रह्माण्ड हैं। अतः कहा कि अगणित शेषके समान भी भार धारण गुण कहना अत्यन्त लघुता है।—[करु०-निरवधि=मर्यादारहित अर्थात् आदि-मध्य-अन्त किसीके जाननेयोग्य नहीं हैं।]

वि० त्रि०—'**भारधरन**—**जगदीसा**' इति। निरुपम पुरुष जगदीशके अपार गुणोंके प्रत्यक्ष करनेका सौभाग्य भुशुण्डिजीको हुआ। इन सबोंका वर्णन तो सर्वथा असम्भव है, फिर भी उस महात्माने उन गुणोंको वैशेषिकोंकी भाँति चौबीस श्रेणियोंमें विभक्त किया। वे ये हैं—सौन्दर्य, अरिमर्दनत्व, अवकाश, बल, प्रकाश, शीतलता, दुस्तरता, दुराधर्षता, अगाधता, करालता, पावनता, अघविनाशकता, अचलता, गम्भीरता, कामदायकता, चातुर्य्य, सृष्टिनैपुण्य, पालकत्व, संहार-कर्तृत्व, धनिकता, प्रपञ्चनिधानता, भारवाहकता तथा प्रभुता। ['*सक्रकोटि सम सरिस बिलासा*' यह गुण इस गणनामें छूटा हुआ है। इसको लेनेसे पचीस गुण होते हैं। चौबीस पूरे करनेके लिये मेरी समझमें 'प्रभुता' के बदले इसको लेना चाहिये। क्योंकि इतनी गणना करके अन्तमें '*निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा*' से सिद्धान्त कहा गया है (मा० सं०)। दो० ९२ में भी देखिये।]

पां०—जगदीशसे 'प्रभुका जगत्‌का राजारूप' उपमा और अवधिरहित कहा। ('भारधरन' का पाठान्तर 'धराधरन' है।)

☞'*राम काम सतकोटि सुभग तन।*' (९१। ७) से यहाँतक 'भिन्नधर्मालोपमा, व्यतिरेक और प्रतीप' अलङ्कारोंकी संसृष्टि है।

छं०—निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम* कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख† मानहीं॥

शब्दार्थ—**बिलास**=प्रचार, मनोरंजन—'**इहाँ जथामति मोर प्रचारू**'

अर्थ—वेद कहते हैं कि श्रीरामजी उपमारहित हैं, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं, श्रीराम-समान श्रीराम ही हैं। अर्थात् 'राम' की उपमा 'राम' ही हैं। जैसे सूर्यको असंख्यों खद्योतके समान कहनेसे अत्यन्त लघुता होती है;‡ वैसे ही इस प्रकार अपनी-अपनी बुद्धि-विलासके अनुसार मुनीश्वर भगवान्‌का

* निगमागम—(का०, पं०)।

† सचु पावहीं—रा० गु० द्वि० गुटका। सप्रेम ते सुख मानहीं—(का०)।

‡ पाण्डेजी इस प्रकार अर्थ करते हैं—'किसीसे प्रभुकी समता करनी इस प्रकार है कि जैसे कोई सूर्यकी उपमाके लिये शतकोटि जुगुनू एकत्र करके फिर सूर्यकी ओर देखे तो अपने कहनेमें अति लघुता पावेगा। और यह दशा केवल कविकी नहीं है बड़े-बड़े मुनीश्वर इस प्रकार कहते हैं।'

वर्णन करते हैं। प्रभु भक्तोंके भावके ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपालु हैं। वे प्रेमयुक्त वर्णनको प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं।

नोट—१ *'निरुपम न उपमा आन……'* इति। **'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच……कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम।'** (बृह० ३। ६। १) इस मन्त्रमें बताया है कि गार्गीने अनेक प्रश्न किये और श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उनके क्रमशः उत्तर दिये, जो संक्षेपसे यह हैं—यह जो कुछ है वह सब जलमें ओतप्रोत है। जल वायुमें, वायु अन्तरिक्षमें, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोकोंमें, गन्धर्वलोक आदित्य लोकोंमें, ये चन्द्रलोकोंमें, चन्द्रलोक नक्षत्रलोकोंमें, नक्षत्रलोक देवलोकोंमें, देवलोक इन्द्रलोकोंमें, इन्द्रलोक प्रजापतिलोकोंमें और प्रजापतिलोक ब्रह्मलोकोंमें ओतप्रोत हैं।—इतने प्रश्नों और उत्तरोंके पश्चात् फिर भी गार्गीने प्रश्न किया कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है?' तब याज्ञवल्क्यजीने इस प्रश्नको 'अति प्रश्न' कहते हुए उत्तर दिया कि 'अति प्रश्न न कर। तेरा मस्तक न गिर जाय। तू जिसके विषयमें अति प्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देवताके विषयमें अति प्रश्न कर रही है।'—पं० श्रीकान्तशरण इसका भाव यह लिखते हैं—ब्रह्मलोकपति श्रीरामजीसे विशेष कोई है क्या? ऐसा पूछनेपर श्रुति सिर गिर पड़नेका भय दिखाती है। यथा—*'राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥'* (६। ३२), तथा—**'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।'** (श्वे० ६। ७) अर्थात् 'वह ईश्वरोंका महान् ईश्वर, देवताओंका परम देव, पतियोंका परम पति और परसे भी श्रेष्ठ है। उस भुवनेश्वर और परम देवको हम जानते हैं।' [भगवान् शङ्कराचार्यजी 'अति प्रश्न मत कर' का भाव यह लिखते हैं कि न्यायोचित प्रकारको छोड़कर आचार्य परम्पराद्वारा पूछने योग्य शास्त्रगम्य देवताको अनुमानसे मत पूछ। इस प्रकार पूछनेसे तेरा मस्तक पतित न हो जाय]।

नोट—२ *'निगम कहै'* का भाव कि यह भगवान्‌की निज वाणी है। यदि उपमा होती तो वे अवश्य कहते। पर कहीं कोई उपमा न मिली तब ऐसा कहा, यथा—*'लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी॥'* (१। ३२०। ३) प्रभुने मनुजीसे स्वयं कहा है कि *'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* (१। १५०। २)

३ *'निरुपम न उपमा आन……'* कहनेसे यह शंका होती है कि प्रभु अनुपम हैं, पर आपने तो उनकी उपमाएँ ऊपर कही हैं और अन्य ऋषियोंने भी तो कही हैं, यह कैसे? उसका समाधान करते हैं कि—(क) *'जिमि कोटि……।'* अर्थात् उपर्युक्त उपमाएँ ऐसी ही हैं जैसे सूर्यकी उपमा देते हुए कहें कि वह शतकोटि जुगुनूके समान है। ऐसा कहना सूर्यके लिये अत्यन्त लघुत्व है और ऐसी उपमासे वक्ताकी भी न्यून बुद्धि प्रकट होती है। जैसे असंख्यों जुगुनू सूर्यकी उपमा नहीं हो सकते वैसे ही असंख्यों कामदेव, असंख्यों दुर्गा इत्यादि उनके सौन्दर्य, शक्ति इत्यादिकी उपमा नहीं हो सकते।

'अति लघुता लहै', इससे तीनोंकी लघुता जनायी। उपमाकी लघुता, कहनेवालेकी लघुता और उपमेयकी लघुता। उपमाकी लघुता यह कि कोई पासंग बराबर भी नहीं है, सब उपमाएँ अत्यन्त तुच्छ देख पड़ती हैं, यथा—*'उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥'* (१। २४७। २) वक्ताकी लघुता यह कि उसकी बुद्धि कैसी ओछी है कि ऐसी उपमा देते नहीं लजातीं, ऐसी उपमा देना बड़ा अनुचित है इत्यादि, यथा—*'सियमुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक।'* बा० २३७।……*वैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे।' 'सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।'* (बा० २४७। ३) ऐसी उपमा देनेसे कविको अपयश होगा। 'उपमेयकी लघुता' यह कि कहाँ वह बुद्धि, मन, वाणीके अनुमानसे भी परे और कहाँ उसकी यह उपमा! सुमेरुको सेर-समान कहना सुमेरुका अपमान है, उसको अत्यन्त न्यून बनाना है, जिसके रोम-रोम-प्रति असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं उसकी उपमा उसके मायाकृत ब्रह्माण्डमें भला कोई हो सकती है।

(ख) जो मुनियोंने कहा है वह *'निज मति बिलास'* है अर्थात् अपनी बुद्धिभर कहा गया है। दूसरे,

वह अपने मनोरञ्जनके लिये कहा गया है, इस तरह उन्होंने अपनी भक्ति जनायी है, वाणीकी सफलता इसीमें है कि वह हरिगुण गावे, अतः मतिविलासानुसार गाते हैं।

३ *'प्रभु भावगाहक·········'* इति। (क) जब लघुता होती है तब तो प्रभु उससे अप्रसन्न होते होंगे? फिर क्यों उपमाएँ दी जाती हैं? इसपर कहते हैं कि प्रभु भावग्राहक हैं, वे भक्तका भाव देख प्रसन्न होते हैं। अतः जहाँतक जिसकी बुद्धिका प्रचार है वहाँतक वह कहता है। यह उसकी भक्ति है, प्रेम है, सेवा है। *'सुर-साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।'* (१। ३२६ छंद १), *'तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भावप्रिय। जन गुन गाहक राम दोष दलन करुना अयन॥'* (बा० ३३६) (ख) *'अति कृपाल'* का भाव कि ऐसी लघुता अपनी देखकर क्रोध होना चाहिये, पर वे अत्यन्त कृपा करते हैं यह समझकर कि इसकी गति इतनी ही है। यथा—*'लोकहु बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनय पहिचानत प्रीती॥ गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥ साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला॥ सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ। रीझत राम सनेह निसोते। को जग मंद मलिन मति मोतें॥'* (१। २८। ५—११) (वहाँ देखिये)।

(ख) *'सप्रेम सुनि सुख मानहीं'*, यथा—*'मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥'* (१। ३४२ (४) यह अति कुपालुता है। लघु उपमापर क्रोध न करना कृपा है और उसे प्रेमसे सुनना तथा सुनकर प्रशंसा करना, उससे आनन्द मानना, यह अति कृपा है। प्रेम देख प्रसन्न होते हैं, जैसे बच्चेके तोतले वचन सुन माता-पिता प्रसन्न होते हैं। *'मानहीं'* अर्थात् इस योग्य है नहीं पर वे मान लेते हैं। मिलान कीजिये—*'बेदबचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुनाऐन। बचन किरातन के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'* (अ० १३६) *रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥'*

दो०—रामु अमित गुनसागर थाह कि पावै कोइ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनाएउँ सोइ॥ ९२॥
सो०—भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीतारवन*॥ ९२॥

अर्थ—श्रीरामजी अमित गुणोंके समुद्र हैं, क्या कोई थाह पा सकता है (कि कितने गुण हैं। अर्थात् कोई थाह नहीं पा सकता)। जैसा कुछ संतोंसे सुना, वह मैंने आपको सुनाया। भावके वश रहनेवाले, षडैश्वर्य-सम्पन्न, सुखके आधार और करुणाके स्थान श्रीसीताजीके पतिको सदा ममता, मद और मान छोड़कर भजना चाहिये॥ ९२॥

नोट—१ *'रामु अमित गुनसागर'* इति। (क) अमित गुणसागर कहकर जनाया कि ऊपर जो वर्णन हुआ वह सब प्रभुके गुण ही हैं।

यहाँतक ३४ गुण वर्णन किये—१ सौन्दर्य, २ शत्रुमर्दन-शक्ति, ३ भोग-विलास-वैभव, ४ अवकाश, ५ विपुल बल, ६ प्रकाश, ७ सुशीतलता, ८ दुस्तर, ९ दुर्ग, १० दुरंत, ११ दुराधर्ष, १२ अगाध, १३ कराल, १४ पावन, १५ नाम अखिल अघपूग नसावन, १६ अचल, १७ गम्भीर, १८ सकल कामदायक, १९ अमित चतुर, २० सृष्टि-रचनामें निपुण, २१ पालनकर्त्ता, २२ संहर्त्ता, २३ धनवान्, २४ प्रपंच-निधान, २५ भारधरन, २६ निरवधि, २७ निरुपम, २८ जगदीश प्रभु, २९ भाव-ग्राहक, ३० अति कृपाल, ३१ भगवन्त, ३२ भावबस्य, ३३ सुखनिधान, ३४ करुणालय।

इस गणनासे यह सन्देह होता है कि बस इतने ही गुण प्रभुमें हैं, अतः कहा कि इतने ही न जानो, वे तो अमित गुणोंके समुद्र हैं। (ख) पुनः, *'अमित गुनसागर'* का भाव कि अनन्त सृष्टिमें एक-

* सीतापतिहि—(का०)

एकमें जो गुण प्रधान है वह सब अनन्त गुणा गुण तो एक ठौर प्रभुमें हैं ही और इनसे भी अनन्त गुण हैं। (ग) गुणसागरमें भाव यह कि सागर·रत्नाकर कहलाता है पर उसमें १४ ही प्रधान रत्न निकले और प्रभुमें अनन्त गुण रत्न हैं। [करु०—भाव कि एक-एक गुण समुद्र इनमें हैं, ऐसे अमित समुद्र हैं।]

इस कथनसे यह शंका हुई कि जब अमितगुणसागर हैं, कोई उनका वर्णन कर ही नहीं सकता तब वर्णन करना ही व्यर्थ है, इससे प्रभु प्रसन्न थोड़े ही हो सकते हैं, उसपर कहते हैं कि—'**भावबस्य**……।'

रा० शं० श०—'***संतन्ह सन जस कछु***……।'—प्रथम संतशिरोमणि शंकरजीसे सुना, फिर लोमशजीसे सुना, फिर अवधमें जन्ममहोत्सवमें अनेक संतोंसे सुना।—[शिष्ट वक्ताओंके कथनकी यही रीति है—बा० १२१ (४-५), ११४ (५) देखिये। उ० ९१ (४) देखिये।]

नोट—२ '***भावबस्य भगवान***……' इति। प्रभु भगवान् अर्थात् षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। उनको किसीसे प्रशंसा कराने या किसीसे प्रशंसा किये जानेकी आवश्यकता क्या? इससे क्या लाभ? पुनः, वे सुखनिधान हैं तब गुण वर्णन करके उनको कोई क्या आनन्द देगा, वे तो स्वयं ही आनन्दसागर हैं। पर वे करुणाभवन हैं। जीवपर उनकी दया है। वे जानते हैं कि जीव असमर्थ है; यह सोचकर वे उसके 'भाव' को लेते हैं और उसीसे प्रसन्न हो जाते हैं, यही नहीं वरन् भक्तके वश हो जाते हैं। अल्प सेवाको बहुत भारी सेवा मानकर बड़े ही कृतज्ञ हो जाते हैं। पूर्व भी इस प्रकारके विशेषण आये हैं। यथा—'***तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव प्रिय।***' (१। ३३६) '**भजामि भाववल्लभं**……' (३। ४ छंद १०) '***प्रभु भावगाहक अति कृपाल***……।' (९२ छंद)—'**सर्वभाव भज**……।' (८७) भी देखिये।

उपक्रम	उपसंहार
महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा	*राम अमित गुनसागर*
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा	*थाह कि पावै कोइ*
निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं	*संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ*……
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद	*भगवान सुखनिधान करुनाभवन भजिअ*

पां०—भाव कि वे यथार्थकी, सत्यकी अपेक्षा नहीं करते, क्योंकि वहाँतक किसीकी गति ही नहीं है।

सि० ति०—'भावबस्य'! भजनमें भावसे ही सरसता होती है। गोस्वामीजीने इस दोहेमें भावका रहस्य खोला है। पहले भगवान् शब्दसे भक्तिके स्वरूपका प्रादुर्भाव कहा है। प्रभु षडैश्वर्यपूर्ण हैं। उनके ज्ञान-बलसे संहार, ऐश्वर्य-वीर्यसे उत्पत्ति और शक्ति-तेजसे पालनका कार्य होता है। जिसके द्वारा ये तीनों कार्य होते हैं, वही उपास्य होता है। जगत्के तीनों कार्य करनेसे भगवान् ही इस-(जगत्भर-) के उपास्यदेव हैं। सब जीव उन्हींके भोग्य हैं, शेष हैं, सबकी स्थिति उन्हींके लिये रहनी चाहिये। प्रत्येक अवस्थामें ये उन्हींके लिये हैं। अतः स्थूल शरीराभिमानी होनेपर हाथोंसे सेवा, नेत्रोंसे दर्शन, कानोंसे यशश्रवण, वाणीसे गुणगान आदि उनकी नवधा भक्ति करनी चाहिये। सूक्ष्मशरीराभिमानी रहनेपर प्रेमाभक्ति और कारणशरीराभिमान शोधनके लिये पराभक्ति करनी चाहिये। नवधासे ममताकी शुद्धि होती है, प्रेमाभक्तिसे बुद्धि आदिके द्वारा होनेवाले विद्या, विवेक आदिके 'मद' नाश होते हैं। पराभक्तिकी प्रारम्भिक विरहावस्थामें वासनामय एवं सूक्ष्म अहंकारमय कारण शरीर जल जाता है। कारण-शरीर, यथा—'***घृतपूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब लखावै।***' (वि० ११५) (इस पदके तीन चरणोंमें तीनों शरीरोंका वर्णन है) यथा—'***संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥***' अतः पराभक्तिसे मनका नाश हो जाता है। तब शुद्ध तुरीयावस्थासे '***भजिय सदा सीतारवन***' कहा गया है कि सदा एकरस निर्बाध श्रीसीतारमणका भजन करना चाहिये। भगवान् तुरीयरूप हैं, यथा—'**तुरीयमेव केवलम्।**'(आ०) यह श्रीअत्रिजीने कहा है। साथ ही '**भजामि भाववल्लभं।**' भी कहा है। अतः भावसहित भजनसे प्राप्त होते हैं। जीव भगवान्‌की सेवा करनेके लिये उनके साथ किसी भावसे ही रहता है, जैसे संसारमें भी दो व्यक्ति साथ रहते हैं तो किसी नातेसे ही रहते हैं। भक्तिमें नातेकी बड़ी ही आवश्यकता है। यथा—'***तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै***……।' (वि० ७९) नातेसे भगवान्

स्नेह-बन्धनमें बँध जाते हैं, उसे त्याग नहीं सकते, यथा—'*तोहि मोहिं अब न तजे बनि आवे।*' (वि० ११३) नातेसहित स्नेहपूर्वक भजन करना भावसहित भजन कहा जाता है। शृङ्गार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शान्त ये पाँच प्रकारके रसात्मक भाव प्रसिद्ध हैं। पाँचों पाँच प्रकारके नातेसहित ही होते हैं। पाँचोंकी भावना तुरीयावस्थासे ही की जाती है। उपर्युक्त रीतिसे तीनों अवस्थाओंके शोधनकालमें यह भावना साधनरूपमें रहती है। तुरीया प्राप्त होनेपर निर्बाध एकरस होती है।

नोट—३ सीतारमणको सदा भजनेका भाव कि—(क) श्रीसीताजी '**उद्भवस्थितिसंहारकारिणी**' '**क्लेशहारिणी**' तथा '**सर्वश्रेयस्करी**' हैं और श्रीरामजीकी परमशक्ति ये ही हैं कि जिनके अंशसे अगणित उमा-रमा-ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं, जिनकी मायाके अन्तर्गत समस्त माया है। अतएव सीतापतिका भजन करनेसे ये सब क्लेशोंको दूर करके सब प्रकारसे कल्याण करेंगी, फिर ममता, मद, मान और माया पास न आ सकेंगे। पुनः इसमें शक्ति और शक्तिमान् दोनोंका भाव है। मिलान कीजिये—'*सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ*……' (अ० २४३)।

पुनः, (ख)—सुशीलताके सम्बन्धसे सीतारमण कहा, यथा—'*सुनि सीतापति सीलसुभाउ।*—*समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पैहै प्रेम पसाउ॥*' (वि० १०१)

रा० प्र०—'सीतापति' को भजनेका भाव कि जिसमें फिर इनका 'बुत्ता' (दाँव, काबू) न चले, जैसे ओषधादिसे घाव पूरा हो जानेपर भी औषध-सेवनसे फिर भय नहीं रहता। ममता, मद, मान भजनके विरोधी हैं; इससे उनका त्याग करके भजन करनेको कहा। 'सीतारमण' पाठका भाव कि—भाववश्यतासे ही सीताविषे रमण करते हैं, वा, ऐश्वर्य त्यागकर वश होते हैं, वा सीता और राम दोनोंको भजो।

४ ☞प्रचण्ड प्रतापवर्णन-प्रसंग समाप्त हुआ।

श्रीगरुड़जीकी कृतज्ञता

सुनि भुसुंडि के बचन सुहाए। हरषित खगपति पंख फुलाए॥ १॥
नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति* प्रतापु उर आना॥ २॥

शब्दार्थ—**आनना**=लाना। **फुलाना**=भीतरके दबावसे बाहरकी ओर फैलाना।

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजीके सुहावने सुन्दर वचन सुनकर हर्षित होकर पक्षिराजने अपने पक्ष फुलाये॥ १॥ उनके नेत्र सजल हो गये, वे मनमें अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने श्रीरघुनाथजीका प्रताप हृदयमें धारण किया॥ २॥

नोट—१ '*सुहाए*' बहुवचन-पद देकर भुशुण्डिजीके उपर्युक्त सब वचन '*सुहाए*' सूचित किये। प्रभुके गुणानुवाद-युक्त, श्रीरामपरत्वके द्योतक एवं भ्रमभंजन होनेसे '*सुहाए*' कहा। पुनः, यहाँ '*सुहाए*' कहकर पूर्वके कुछ वचनोंका असुहाये होना जनाया। '*सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे*' इत्यादि जिनमें गरुड़जीकी प्रशंसा है वे 'न सुहाये' थे, और रामपरत्व और उपदेशके वचन 'सुहाये' थे। [पं०—सत्कारपूर्वक उपदेश किया, श्रीरामचन्द्रजीका माहात्म्य सुनाया और संदेहका खण्डन किया, अतः '*सुहाए*' कहा।]

२ '*पंख फुलाए।*' यह पुलकित एवं आनन्दित होना प्रकट करता है, जैसे वर्षाकालमें मेघोंको देखकर मयूर पर फैलाकर नाचने लगता है। इसीसे 'हर्षित' कहकर 'पंख' फुलाना कहा।

३ '*मन अति हरषाना।*'—यहाँ 'अति हर्ष' का भाव यह है कि बाह्य शरीरसे वह हर्ष नहीं अनुमान किया जा सकता, बाहर तो किंचित् ही उसकी छटा है, इसीसे शरीरके सम्बन्धमें 'हरषित' मात्र कहा और मनमें अति हर्ष कहा। पुनः, 'अति हर्ष' का भाव कि जब भीतर न समाया तब नेत्रादिद्वारा कुछ बाहर भी निकल आया। यह कहकर अति हर्षका कारण बताते हैं कि '*श्रीरघुपति प्रतापु उर आना।*' अर्थात् पहले इसमें नाना भ्रम संशय भरे थे अब उसमें रामप्रताप भर गया है।

४ '*श्रीरघुपति*' का भाव। (क) ये समस्त श्री और जीवोंके भी 'पति' (स्वामी) हैं। पुनः, (ख)

* 'श्रीरघुबर'—(का०), 'रघुपति प्रभाव'—पाठान्तर।

मोह 'रघुपति' स्वरूप अर्थात् सगुण अवतारमें हुआ था; अब उनको पुनः ब्रह्म निश्चय कर लिया, मनुष्य-बुद्धि जाती रही, गौरवकी दृष्टि हुई। अतः 'श्रीरघुपति' कहा।

५ (क)—भुशुण्डिजीने दोहा ७४ (१) से सात बार सुननेको कहा। यथा—*'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई।'* (७४। १), *'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ।'* (७४। ५), *'कहउँ खगेस सुनहु मन लाई।'* (७५। १), *'कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक।'* (७६। १), *'सुनहु सो सावधान हरिजाना॥'* (७८। ३), *'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'* (७९। ४), *'रामकृपा बिनु सुनु खगराई।'* (८९। ६) इतनी बार 'सुनु' कहकर जनाया कि प्रभुता कहनेमें बारम्बार सावधान करते गये और प्रभुताके अन्तर्गत इतनी बातें कहीं। बीचमें कहीं यह नहीं कहा गया कि गरुड़ने सुना। यहाँ *'सुनि भुसुंडिके बचन सुहाए'* में गरुड़का सुनना कहकर जनाया कि जो प्रसंग ७४ (१) से उठा था वह वहाँसे यहाँतक सब सुना। (ख) प्रारम्भमें भुशुण्डिजीने रघुपति-प्रभुताईकी कथाको *'सुहाई'* विशेषण भी दिया है, यथा—*'कहउँ जथामति कथा सुहाई'* अतः *'सुनि भुसुण्डि के बचन सुहाए'* कहकर उस वचनका उपसंहार यहाँ जनाया। (ग) उपक्रममें 'रघुपति प्रभुता' सुननेको कहा, अतः उपसंहारमें प्रभुत्वसूचक 'श्रीरघुपति' पद दिया। (घ) *'श्रीरघुपति प्रताप उर आना।'* कहकर उत्तम श्रोता जनाया, क्योंकि इनने केवल सुना ही नहीं वरन् उसे हृदयमें धारण कर लिया। चरित सुननेपर *'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित'* कहा था और ऐश्वर्य जान लेनेपर *'श्रीरघुपति प्रताप उर आना'* कहा। ऐश्वर्यसम्बन्धसे 'श्री' विशेषण दिया। भाव कि अब केवल रघुपति नहीं वरन् उनको परात्पर ब्रह्म रघुपतिरूपमें जानते हैं। 'राम' ब्रह्मका प्रताप तो जानते ही हैं—*'देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।'* संदेह अवतारके प्रतापमें था, अतः 'रघुपतिप्रताप' जानना कहकर माधुर्यमें ऐश्वर्यरूपका बोध किया।

पाछिल मोह समुझि पछिताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना॥ ३॥
पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा॥ ४॥

अर्थ—पिछला मोह समझकर पछताया (कि उफ ओह! खेदकी बात है, शोक है कि देखो तो) अनादि ब्रह्मको मैंने मनुष्य करके माना॥ ३॥ बार-बार काकके चरणोंमें सिर नवाया और श्रीरामजीके समान जानकर प्रेम बढ़ाया॥ ४॥

नोट—१ *'पाछिल मोह'* का भाव कि पूर्व था, अब नहीं रह गया। पहले क्या मोह था सो दूसरे चरणमें खोलते हैं कि अनादि ब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि निश्चय की थी। 'पाछिल' से तो पूर्वकथित अभिप्रेत होता है तब यहाँ *'ब्रह्म अनादि मनुज करि जाना'* को पिछला कैसे लेते हैं? उत्तर यह है कि पूर्व मोह, संशय और कुतर्क होना कहा, पर मोह क्या था उसे कहीं स्पष्ट न कहा था, अतः यहाँ उसीको स्पष्ट किया।

(१) *'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥ सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥'* (५८। ७-८) *भवबन्धन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥'* (५८) *खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भएउ मोहबस तुम्हरिहि नाई॥'* (५९। २) इस उद्धरणसे अनुमान होता है कि ब्रह्म होनेमें संदेह हो रहा है।

(२) *'मोहि भएउ अति मोह प्रभुबंधन रन महँ निरखि। चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन॥'* (६८) *देखि चरित अति नर अनुसारी। भएउ हृदय मम संसय भारी॥'* (६९। १)—यहाँ जनाया कि व्याकुल होनेका कारण विचारमें न आनेसे भारी संशय हुआ।

(३) वह 'भारी' संशय यहाँ खोला कि कारण न समझनेसे मनुष्य निश्चय किया था।

वि० त्रि०—गरुड़जीको प्रभुका बन्धन देखकर जो उन्हें मनुष्यका भ्रम हुआ और जितने दिन उनको भ्रम बना रहा, उसका स्मरण करके उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि इतने दिन हमारे भगवद्भजनमें न बीतकर घोर अज्ञानमें बीते। इतना बड़ा भगवदपराध मुझसे बन पड़ा कि अनादि ब्रह्मको मैं पार्श्ववर्ती होनेपर भी पहचान न सका और मनुष्य मान लिया। मेरी गिनती मूढ़ोंमें हो गयी। यथा—'**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥**' (गीता ९। ११)

नोट—२ *'पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा'* इति। इससे कृतज्ञता प्रकट की। यथा—*'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* (१२५। ४) अर्थात् मैं इस उपकारका बदला नहीं दे सकता। दोहा ९३ (५) में भी देखिये। पक्षिराज होकर नीच पक्षीको प्रणाम करना अयोग्य है, अतः शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि *'जानि राम सम।'*

३ *'जानि राम सम प्रेम बढ़ावा'* इति। (क) जिसे माया न व्यापे वह भगवान्‌के समान है, जैसा कि सुग्रीवजीने कि० २१ (२—५) में कहा है। यथा—*'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥ बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥ नारि नयन सर जाहिं न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥'* सुग्रीवजी विषयवश हो गये थे, इससे उन्होंने केवल विषयसम्बन्धी कामादिको कहकर *'सो नर तुम्ह समान'* कहा। पर प्रारम्भमें 'माया' को कह देनेसे स्पष्ट कर दिया कि मायाका समस्त परिवार जिसको न व्यापै वह आपके समान है। इसके पश्चात् फिर कहा कि *'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* और गरुड़जी अभी-अभी भुशुण्डिजीसे सुन चुके हैं कि प्रभुने उनको मायारहित कर दिया। अतः *'राम सम'* जानना कहा। पुनः, श्रीरघुनाथजीका स्वरूप उन्हीं-(श्रीरामजी-) की ही कृपासे जाना जाता है, जब वे (श्रीरामजी) जनाते हैं तभी मनुष्य जानता है, और यहाँ भुशुण्डिद्वारा राम-प्रताप जाना है। अतः इनको *'राम सम'* जाना। पुनः, पूर्व इनमें विशुद्ध सन्तका भाव हुआ था, यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* (६९। ७), अब 'रामसम' कहकर संत-भगवंतमें अभेद जनाया। —*'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि……।'* (वि० ५७) आगे इनमें गुरुबुद्धि दिखाकर भक्त, भगवन्त और गुरुमें अभेद जनाया है। गुरुजी भगवान्‌का स्वरूप हैं। यथा—**'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः।'** (भा० ११। १७। २७) भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि आचार्यको मेरा स्वरूप जाने। उनकी अवज्ञा न करे। उनको साधारण मनुष्य समझकर उनके गुणोंमें दोष न निकालें, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। अतः *'राम सम'* जानना कहा।

(ख) *'प्रेम बढ़ावा'* का भाव कि पूर्व-चरित सुननेपर प्रेम हुआ था, यथा—*'सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग।'* अब वह अधिक हो गया, अतः 'बढ़ावा' कहा। प्रेम बढ़ाया, यह कैसे जाना यह आगे कहते हैं कि पहले 'रामसम' जाना और फिर गुरु भी मान लिया। 'पुनि-पुनि प्रणाम' भी प्रेमकी अधिकताका कारण है।

गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥ ५॥

अर्थ—गुरुके बिना कोई भवसागर पार नहीं होता, चाहे वह ब्रह्मा और शंकरजीके समान ही (क्यों न) हो॥ ५॥

नोट—१ *'गुरु बिनु……'*—इससे जनाया कि गरुड़जीने श्रीभुशुण्डिजीको गुरु माना। अतः *'पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा'* गुरुबुद्धिसे था। ☞ रामचरित सुननेपर गुरुबुद्धि न हुई थी, केवल संतबुद्धि हुई थी। क्योंकि उन्होंने रामचरित सुनाया। प्रथम संतका संग होता है तब उससे उसे चरित मिलता है, यथा—*'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥'* गुरु उपदेष्टा होता है, भुशुण्डिजीने पूर्व श्रीरामचरितमात्र कहा था, उपदेश न दिया था, और श्रीरामपरत्व तथा अपना मोह-कथन करते समय बारम्बार उपदेश भी दिया, उनको भगवत्-सम्मुख किया। वे विमुख हो गये थे। उनकी वह विमुखता दूर कर दी। अतः अब गुरु माना। यथा—*'अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर……॥'* (९०) *'तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीतारवन।'* (९२) पुनः, यह भी बीचमें कहा है कि *'बिनु गुर होइ कि ज्ञान।'* (८९) यह गुरुकी आवश्यकता भी सुनी है। बिना ज्ञानके संशय नहीं जाते—*'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'* और ज्ञान बिना गुरुके नहीं होता, अतः गुरु माना।

गुरु वही है जो शिष्यके मोह और संशयोंका नाश करे, यथा—*'महा मोह तम पुंज जासु बचन रबिकर*

निकर।'(बा० मं० सो० ५), *'सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।'*(४। १७) संशयका दूर होना भुशुण्डिकी कृपासे दोहा ६९ (८) में कह आये और यहाँ कह रहे हैं कि *'मम मोह नसावा'* अतः भुशुण्डिजीमें गुरुभाव हो गया। *'सदगुर मिलें जाहिं——।'*(४। १७) यहाँ उनमें चरितार्थ हुआ।

२ख—*'भवनिधि तरै न कोई'* के *'न कोई'* से सबको गुरुकी परम आवश्यकता जनायी। आजकल प्रायः पश्चिमी सभ्यताको प्राप्त नई रोशनीवाले गुरुका करना ढोंग और बिलकुल अनावश्यक मानने लगे हैं। पर हमारे शास्त्रोंमें उसका होना जीवके लिये परमावश्यक बताया गया है। (भा० १०। ८७। ३३) में वेदोंने भगवान्की स्तुति करते हुए इस विषयमें केवल अपने बुद्धिबलसे भवसागर पार कर लेनेके अभिमानियोंकी दशा बहुत उत्तम रीतिसे शोचनीय दिखायी है। **'विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः। व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥'** अर्थात् जिन योगियोंने अपनी इन्द्रियों और प्राणोंको वशमें कर लिया है, वे भी जब गुरुदेवके चरणोंकी शरण न लेकर उच्छृङ्खल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंगको अपने वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं तब अपने साधनोंमें सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्रमें बिना कर्णधारकी नावपर व्यापार करनेवालोंकी होती है। तात्पर्य यह कि जो मनको वशमें करना चाहते हैं, उनके लिये कर्णधार गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता है।

३—*'जौं बिरंचि संकर सम होई'* का भाव कि ब्रह्माके समान सृष्टिकर्त्ता तथा सारे संसारका कल्याण करनेवाला शंकरजीके समान ही क्यों न हो, फिर भी बिना गुरुके ऐसा पद पाकर भी ऐसा महत्त्वशाली होनेपर भी, भवसागर पार नहीं होगा। पुनः, विरंचि और शंकरका उदाहरण देकर जनाया कि ईश्वरकोटिवाले भी बिना गुरुके भवपार नहीं हो सकते तब इतर जीव किस गणनामें हैं? ब्रह्मा और शंकरजीके गुरु स्वयं भगवान् ही हुए।* पूर्व जो कहा है कि *'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'* वही बात यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। ज्ञानसे मोक्ष होता है, यथा—*'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।'* और; वह ज्ञान स्वयं शास्त्रादिके अध्ययनसे नहीं हो सकता, उसके लिये गुरु जरूरी है। अतः कहा कि *'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।'* गुरु-महिमा यहाँतक कही गयी है कि *'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुरु बिरोध नहिं कोउ जगत्राता।'*

श्रीरामनाम-जपके विषयमें कहा जाता है कि गुरु करनेके बिना भी जप कर सकता है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि भवसागर पार होनेके लिये उसको गुरुकी किञ्चित् जरूरत नहीं। काष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि *'चढ़ै जो भक्ति नवरिया केवल नाम अधार। सतगुरु देव मलहवा तौ करै उधार॥'* नामका आश्रय लेनेसे वे स्वयं यह बुद्धि प्रदान कर देते हैं।

गोस्वामीजीने रामनामके लिये भी गुरुकी आवश्यकता कही है—*'बेगि बिलंबु न कीजिये लीजिये उपदेस। बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥'* (वि० १०८) इस काण्डमें भी बार-बार गुरुकी आवश्यकता कही गयी है, यथा—१ *'करनधार सदगुर दृढ़ नावा।'* (४४। ८। २) *'बिनु गुर होइ कि ज्ञान।'* (८९), ३ *'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।'* (९३। ५।' ४) *'सदगुर बेद बचन बिस्वासा।'* (१२२। ६)

नं० प०—श्रीशिवजी त्रिकालज्ञ हैं। वे जान गये कि गरुड़को अभिमान था कि हम पक्षिराज हैं, हम किस पक्षीको गुरु बनावें, इसलिये निगुरु रह गये थे। इसीसे उन्होंने श्रीपार्वतीजीसे कहा था *'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* श्रीरामजीने गरुड़को काकके पास भेजवाकर उनका अभिमान तोड़ा। *'पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा।——'* यहाँ अभिमान टूटा। काकको गुरु बनाकर कहा कि बिना गुरुके कोई भी संसार-सागरसे पार नहीं हो सकता।

---

* दिव्य शतवर्ष जप ध्यान जब शिव धरेउ राम गुरुरूप मिलि पंथ बतायो। चितै हित लीन लखि कृपा कीन्हीं तबै दैव-दुर्लभ देवि दरश पायो॥'—(वि० प्रक्षिप्तपद)। 'क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव।' 'त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्। जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते। मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि तन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव।' (६—८)—(उत्तररामतापनी)

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥ ६॥
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ जन सुखदायक॥ ७॥
तव प्रसाद मम मोह नसाना। रामरहस्य अनूपम जाना॥ ८॥

शब्दार्थ—**ग्रसना**=खानेके लिये पकड़ना; बुरी तरह पकड़ लेना कि छूट न पावे। सर्पका डसना वा काट लेना। **तव स्वरूप**=आपकी मूर्ति=आप।=तव कथित स्वरूप। **गारुड़**=सर्पके विष उतारनेका मंत्र। इसके देवता गरुड़ हैं। इसीसे इसका नाम गारुड़ है। गारुड़ी=गारुड़ मन्त्रसे झाड़नेवाला। **लहर**=सर्पके डसनेपर वह अवस्था जिसमें बेहोशीके बीच-बीचमें वह जग उठता है।

अर्थ—हे तात! मुझे संशयरूपी सर्पने डस लिया था। बहुत-से कुतर्करूपी दुःख देनेवाली समूह लहरें आयीं॥ ६॥ आपके स्वरूपरूपी गारुड़मन्त्रसे भक्तोंके सुख देनेवाले श्रीरघुनायकरूपी गारुड़ीने मुझे जिला लिया॥ ७॥ आपकी कृपासे मेरा मोह नाश हुआ और मैंने उपमारहित रामरहस्य जाना॥ ८॥

नोट—१ यहाँ 'सम अभेदरूपक' है। संशयका रूपक सर्पसे दिया है। सर्पके डसनेपर विष चढ़नेसे लहरें आती हैं और संशय होनेपर अनेक कुतर्कनाएँ उठती हैं (अनेक कुतर्कनाएँ जो उठीं वह ५८ (६) से ५९ (२) तक हैं)। मोह विष है। लहर आनेपर गारुड़मन्त्रसे झाड़नेसे विष उतर जाता है। यहाँ भुशुण्डिजीके द्वारा गरुड़का संशय और कुतर्क नष्ट हुआ, यथा—*'तव प्रसाद सब संसय गएऊ।'* (६९। ८) संशय कारण ही नष्ट हो गया तब कार्य कहाँ? अतः भुशुण्डीजी गरुड़-मन्त्र हुए। मन्त्रके लिये उसका जाननेवाला गारुड़ी चाहिये जो झाड़े सो यहाँ रघुनाथजी झाड़नेवाले हैं, यथा—*'रामकृपा तव दरसन भएऊ। तव प्रसाद सब संसय गएऊ॥'* (६९। ८) *'पठइ मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥'* (७०। ४) और प्रकारसे भी अर्थ किये गये हैं—

'तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ'

१—गारुड़ि रघुनायक (ने) तव स्वरूप (गारुड़मन्त्र) से मोहि जियायेउ।
२—रघुनायक तव स्वरूप गारुड़ी (द्वारा) मोहि जियायेउ—करु०, पं०।
३—तव (कथित) रघुनायकस्वरूप गारुड़ी (ने) मोहि जियायेउ।
४—तव स्वरूप (में) रघुनायक गारुड़ी (ह्वै) मोहि जियायेउ—करु०, वै०।
५—हे रघुनायक जनसुखदायक! तव स्वरूप गारुड़ीमंत्र ह्वै मोहि जियायेउ। पां०।

इत्यादि प्रकारके अन्वय टीकाओंसे निकलते हैं। गारुड़ीका अर्थ कोशमें सम्पादकको 'गारुड़मन्त्रसे झाड़नेवाला' मिला है, अतः उनके अर्थ यहाँ नहीं दिये गये, जिनने उसका अर्थ 'मन्त्र' किया है। पंजाबीजीने 'रघुनायकने तुम्हारा स्वरूपरूपी गारुड़ी मिलाकर मुझे जिला लिया।' ऐसा अर्थ किया। वि० टीकाकार अर्थ करते हैं कि 'रामरूपी मन्त्रहीसे मानो काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीके संशयरूपी सर्पदंशको झाड़ा। जैसा बालकाण्डमें रामनामके माहात्म्यमें कहा है—*'मंत्रमहामणि बिषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके॥'* अर्थ यों भी ठीक होता है; पर सम-अभेदरूपकी उत्कृष्टता जाती रहती है। गारुड़ी गारुड़मन्त्रसे झाड़ता है। इस अर्थमें मन्त्रका रूपक नहीं है। करुणासिंधुजी महाराजने दो प्रकारसे अर्थ किया है—एक तो यह कि 'आपका स्वरूप गारुड़ीमन्त्र है, आपके पास भेजकर रघुनाथजीने जिलाया।' दूसरे यह कि, 'आपके स्वरूपमें रघुनायकने गारुड़ीरूप होकर मुझे जिला लिया।' यह दूसरा अर्थ भी घटित हो जाता है, क्योंकि ऊपर कहा ही है कि *'जानि राम सम प्रेम बढ़ावा।'* बैजनाथजी उपदेशके वचनोंको मन्त्र और भुशुण्डिको गारुड़ी कहते हैं। ऐसा भी अर्थ करते हैं कि 'आपने जो रघुनाथजीका स्वरूप कहा यही गारुड़ी है जिसने मुझे जिला लिया' इत्यादि। यदि गारुड़िका अर्थ गारुड़मन्त्र होता तो यह अन्तिम अर्थ बहुत ही सङ्गत होता। पाँचवाँ अर्थ पाण्डेजीका है। वे अवरेवसे यह अर्थ करते हैं कि 'हे रघुनायकके जनोंको सुख देनेवाले! तुम्हारे स्वरूपने गारुड़ीमन्त्ररूप होकर मुझे जिला लिया।' करुणासिन्धुजी गारुड़ीका अर्थ गारुड़मन्त्रसे झाड़नेवाला और मयूरी दोनों लिखते हैं।

प्र० स्वामीजी मा० पीयूषमें दिये हुए 'अर्थ' से सहमत हैं। मिलान कीजिये—*'संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस तर्क बिषादः।'* (सुतीक्ष्णवाक्य) सुकर्कश तर्क ही कुतर्क है। (प० प० प्र०)

श्रीनंगे परमहंसजी इस प्रकार अन्वय करते हैं—*'जन सुखदायक तव रघुनायक सरूप गारुड़ि मोहि जियायेउ॥'* 'हे जनोंके सुख देनेवाले! आपने जो रघुनाथजीका स्वरूप गारुड़िमन्त्र है उससे मुझे जिला लिया।' यह अर्थ प्रायः वही है जो श्रीबैजनाथजीका ऊपर दिया गया है।

नोट—२ *'तव प्रसाद मम मोह नसाना'* इति। गरुड़जी बड़े ही कृतज्ञ हैं। इसीसे बारंबार *'तव प्रसाद'* या उसके पर्यायपदका प्रयोग उन्होंने आद्यन्त किया है—(१) प्रथम रामचरित-श्रवणपर, दो बार, यथा—*'भएउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥'* (६८), *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ।'* (६९। ८) (२) फिर दूसरे प्रसंगकी समाप्तिपर यहाँ—*'तव प्रसाद मम मोह नसावा।'* (३) फिर तीसरे प्रसंगकी समाप्तिपर भी यथा—*'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी॥ तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥'* (११५। ६) पुनः (४) चौथे प्रसंगके अन्तमें, यथा—*'जौं कृपालु मोहि ऊपर भाऊ।'* (१२१। १) (५) सत्संगके अन्तमें, यथा—*'मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी—मोहजलधि बोहित तुम्ह भये—मो पहिं होइ न प्रति उपकारा।—जीवन जनम सुफल मम भएऊ। तव प्रसाद संसय सब गएऊ॥'* (१२५। १—९) इत्यादि।

☞प्रायः सभीने 'जनसुखदायक' को रघुनायकका विशेषण माना है। एक या दोने इसे सम्बोधन माना है। अन्तमें गरुड़जीने कहा भी है—*'मो कहँ नाथ बिबिध सुख दयऊ।'* अतः सम्बोधन भी हो सकता है। पर 'जनसुखदायक' 'रघुनायक' का विशेषण संगत है। यथा—*'जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता॥'* (१। १८६। छंद)

इस प्रसंगका उपक्रम	उपसंहार
मोहि भएउ अति मोह—(६८)	*तव प्रसाद मम मोह नसाना।* (९३। ८)
परम रहस्य मनोहर गावउँ (७४। ४)	*रामरहस्य अनूपम जाना।* (९३। ८)

रा० प्र०—'ग्रसेउ' के साहचर्यसे अजगर व्यंजित होता है, पर लहरके साहचर्यसे किसी एक अवयवका ग्रास अनुमित होता है।

भुशुण्डि-गरुड़-संवाद तृतीय प्रसंग

(गरुड़जीके प्रश्न)

दो०—ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि सीस नाइ कर जोरि।
बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोलेउ गरुड़ बहोरि॥
प्रभु अपने अबिबेक ते बूझौं* स्वामी तोहि।
कृपासिंधु सादर कहहु जानि दास निज मोहि॥९३॥

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजीकी प्रशंसा अनेक प्रकारसे करके और हाथ जोड़ माथा नवाकर गरुड़जी प्रेमसहित अत्यन्त विनय और नम्रतायुक्त कोमल वचन फिर बोले। हे प्रभो! हे स्वामिन्! मैं अपने अज्ञानके कारण आपसे पूछता हूँ। हे दयासागर! मुझे अपना 'निज दास' जानकर आदरपूर्वक (मेरे प्रश्नका उत्तर) कहिये॥ ९३॥

नोट—१ *'प्रसंसि बिबिध बिधि'* इति। *'बिबिध बिधि'* यह कि—*'तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ जन सुखदायक'* यह एक विधि, *'तव प्रसाद मम मोह नसाना'*, यह दूसरी विधि, *'तव प्रसाद रामरहस्य अनूपम जाना'* यह तीसरी विधि हुई। तीन प्रकार कहकर अनेक प्रकार और भी सूचित किये। [रा० प्र०—वेद-शास्त्र और लोकरीतिसे उसके गुण बखान किये। अपनी कृतकृत्यता-कृतज्ञता तथा उनका धन्यवाद अनेक प्रकारसे कहा।]

* पूछौं—(का०)

२ (क) *'सीस नाइ' 'कर जोरि'* यह दो भावसे—एक तो प्रश्न करना है, दूसरे उनको गुरु मान चुके हैं। अगला दोहा गुरु-भावका पूर्ण पोषक है—'प्रभु', 'स्वामी', 'निज दास' सम्बोधनोंसे भी यह स्पष्ट है।

(ख) *'कर जोरि'* इति। करु० और रा० प्र० यह शंका उठाकर कि 'पक्षीके हाथ नहीं होते, यहाँ हाथ जोड़ना कैसे कहा?' उसका समाधान करते हैं कि—गरुड़ इच्छारूप धारण कर सकते हैं, जैसे भुशुण्डिजी और शिवजी जन्म-महोत्सव-समय *'मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ'* धारण कर लेते हैं। उनका बोलना, संवाद करना इत्यादि उनके दिव्य रूपके बोधक हैं, अथवा पक्षमें ही लक्षणाद्वारा हाथोंकी भावना कर लें।

३—*'बचन बिनीत सप्रेम मृदु'* इति। (क) ☞यहाँ गरुड़का मन, तन और वचन तीनोंका प्रेम दिखाया—*'मन अति हरषाना'* यह मन, *'हरषित खगपति पंख फुलाए', 'पुनि पुनि कागचरन सिरु नावा'* यह तन और *'बचन सप्रेम'* यह वचन है। (ख) 'प्रभु', 'स्वामी', 'कृपासिंधु' सम्बोधन, अपना अविवेक कहना तथा अपनेको 'दास' कहना ये सब विनीत, सप्रेम और मृदु हैं। आगे भी ऐसे ही वचन हैं।

४—*'बोलेउ गरुड़ बहोरि'* कहा क्योंकि *'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता'*—*'रामरहस्य अनूपम जाना'* *'जाना'* ये अभी-अभी कह चुके हैं। पुनः *'बहोरि'* का भाव कि वह प्रसंग समाप्त हो गया, अब दूसरा प्रसंग छेड़ते हैं। वह मोह-प्रसंगका उपसंहार था और यह नये प्रसंगका उपक्रम है।

५—*'प्रभु अपने अबिबेक ते……'* इति। ☞गुरुजनोंसे किस प्रकार प्रश्न करना चाहिये, यह यहाँ दिखाते हैं। उनकी प्रशंसा करना, प्रणाम करना, हाथ जोड़कर प्रश्न करना, उनमें गुरुबुद्धि करके प्रभु, स्वामी, कृपालु इत्यादि सम्बोधन करके, अपना अज्ञान कहकर विनीत सप्रेम मृदुवाणीसे प्रश्न करना। ग्रन्थमें इसके उदाहरण 'भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद', 'उमा-महेश्वर-संवाद' इत्यादिमें भरे पड़े हैं।

☞कितना ही बुद्धिमान् ज्ञाता ही क्यों न हो, सत्संगके लिये भी इन बातोंका होना परमावश्यक है। तभी पूर्ण रहस्य सुननेको मिलता है। और वक्ताको भी संशय-छेदनमें प्रेम और उत्साह होता है। अपना किञ्चित् भी ज्ञान प्रकट किया कि वक्ता सावधान हो जायगा और उससे प्रश्नकर्त्ताका कपट सिद्ध होगा। अतः अपना 'अविवेक' कहा। पुनः, गुरु वह है जो शिष्यका अज्ञान हरे। गुरुका अर्थ ही है अन्धकारका हरनेवाला। भुशुण्डिजी गुरु हैं, अतः उनसे अज्ञानकी निवृत्ति कराते हैं। *'अबिबेक ते'* का भाव कि मैं छल-कपटसे नहीं पूछता, वस्तुतः मैं जानता नहीं, इससे पूछता हूँ। जो बात मुझे पूछनी है, उसका कारण यथार्थ मेरा जाना हुआ नहीं है, इसीसे पूछता हूँ।

६—*'प्रभु'* का भाव कि मेरी आगामी शंकाके निवारणको आप समर्थ हैं। *'कृपासिंधु'* का भाव कि आप परम दयालु हैं, आपकी मुझपर दया है। यथा—*'नभगनाथ पर प्रीति न थोरी।'* (७०। १) इत्यादि। जिसपर दया हो वह भी गुप्त रहस्यका अधिकारी हो जाता है। बा० ११० (१) देखिये। पुनः, भाव कि अज्ञान होनेसे रिस न कीजियेगा। यथा—*'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू।'* (बा० १०९)

वै०—प्रभु अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं। कृपासिंधुका भाव कि मुझसे कहते न बने तो उसे क्षमा कीजियेगा।

पं०—१ *'अबिबेक ते।'* अज्ञान होकर पूछनेमें तात्पर्य कि अभिमानी होकर पूछनेवालेसे गुरु तत्त्व नहीं कहते। २-प्रभु और कृपासिंधु सम्बोधन आदरार्थ दिये।

नोट—७ *'जानि दास निज मोहि'* का भाव कि 'निजदास' से तत्त्व छिपाना न चाहिये; दूसरे गुरुका धर्म है कि दासका अविवेक दूर करे। *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥'* (१। ११०। १) देखिये। *'हरै सिष्यधन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥'* (९९। ७)

'बूझौं' शब्द यहाँ सार्थक है। पहेली बूझी जाती है। जो मैं पूछता हूँ, वह मुझे पहेली-सी जान पड़ती है। ☞पूर्व जो कुछ मोहका प्रसंग कहा गया वह गरुड़के प्रश्नपर न था। गरुड़का प्रश्न यहींसे उठता है।

तुम्ह सर्बज्ञ तग्य तम पारा। सुमति सुसील सरल आचारा॥ १॥
ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥ २॥
कारन कवन देह यह पाई। तात सकल मोहि कहहु बुझाई॥ ३॥

अर्थ—आप सर्वज्ञ (त्रिकालका ज्ञान आपको है, आप तीनों कालोंके सब पदार्थोंके ज्ञाता हैं), ब्रह्मतत्त्वके ज्ञाता, अविद्यादि मायासे परे, उत्तम बुद्धिवाले, सुशील, सरल (सीधा-सादा, निश्छल) आचरण, ज्ञान-वैराग्य-विज्ञानधाम और श्रीरघुनाथजीके प्रिय दास हैं॥ १-२॥ (तब) किस कारण यह देह पायी। हे तात! सब समझाकर मुझसे कहिये॥ ३॥

नोट—१ गरुड़ने जो विशेषण यहाँ दिये हैं वह सब उस वरके अनुसार हैं, जो श्रीरामजीने भुशुण्डिजीको दिया है और सुशीलता, सरलाचार एवं सुमति तो गरुड़ने आँखों देखी है। यथा—

सर्वज्ञ तज्ञ—*जानब तैं सब ही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥*

तम पारा—*माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि।*

प्रिय दासा—'*सुचि सुशील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग॥*' (८६) (इसमें सुमति सुशील भी हैं)

सुमति सुशील { '*सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।*' (८७)

'*अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा।*' (६३। ७)

सरल आचारा { '*करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥*' (६३। ८)

ज्ञानविज्ञानविरति—'*ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना।*' '*सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे।*'

रा० प्र०—'*प्रिय दास*' से यह भी जनाया कि आप प्रभुके नित्य अव्यय परिकर ही हैं, परिकर स्वामीके रूप होते हैं पर आपका काकरूप है, यह आश्चर्य है। '*सकल*'—दोहा ९४ देखिये।

नोट—२ '*कारन कवन देह यह पाई*' कहनेका भाव कि इन विशेषणयुक्तवालेका काकशरीर हो नहीं सकता, दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। यथा—'*बिरति ग्यान बिज्ञान दृढ़ रामचरन अति नेह। बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह॥*' (५३) इत्यादि श्रीपार्वतीवचन देखिये।

३—'*बुझाई*' का साधारण अर्थ यह है कि समझाकर कहो। पर इस शब्दमें यह भी ध्वनि है कि रामभक्त और कागतन यह मुझे पहेली-सा लग रहा है। पहेली जल्द समझमें नहीं आती, समझानेपर समझ पड़ती है।

रामचरितसर सुंदर स्वामी। पाएहु कहाँ कहहु नभगामी॥ ४॥
नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महाप्रलयेहुँ नास तव नाहीं॥ ५॥
मुधा बचन नहिं ईश्वर* कहई। सोउ मोरे मन संसय अहई॥ ६॥

अर्थ—हे स्वामिन्! यह सुन्दर रामचरितसर आपने कहाँ पाया। हे आकाशगामी पक्षि! कहिये॥ ४॥ हे नाथ! मैंने शिवजीसे ऐसा सुना है कि महाप्रलयमें भी आपका नाश नहीं होता॥ ५॥ ईश्वर (शिवजी) झूठ वचन नहीं कहते। (अतः) यह भी सन्देह मेरे मनमें है॥ ६॥

नोट—१ '*रामचरित सर सुंदर स्वामी।*........' इति। (क)—भुशुण्डिजीने सबसे प्रथम 'रामचरितसर' कहा था तब रामचरित, यथा—'*प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥*' (६४। ७) यह प्रश्न उसी 'सर' के विषयमें है। (ख)—'*पाएहु कहाँ कहहु नभगामी*' में दो भाव हैं—एक तो यह कि आप आकाशमें उड़नेवाले हैं, सर्वत्र उड़े होंगे, उन स्थलोंमेंसे किस स्थलपर इसे पाया। दूसरे पक्षीको इसकी प्राप्ति हुई यह आश्चर्य जनाया। [नभ कहकर सर्व ब्रह्माण्डमें विचरण सूचित किया। रामचरितसर=रामचरितमानस (पं०)। सर=तालाब। (रा० प्र०) रामचरितसर सुन्दर है, यथा—'*करइ मनोहर मति अनुहारी*' से लेकर '*पुलक बाटिका बाग*........' तक सुन्दरता कही है (रा० शं०)]

२—'*नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं।*........' इति। पूर्व यह बात स्पष्ट नहीं कही थी, क्योंकि उसे यहाँ लिखना था; पर '*मैं जब सब तेहि कहा बुझाई।*........*।*' (६२। ६), इन वचनोंमें इसका संकेत है।—विशेष ६२ (६) देखिये।

३—'*महाप्रलयेहुँ*' का भाव कि उसमें चराचर सृष्टिमात्रका नाश हो जाता है, सिवा एक परमेश्वरके दूसरा देहधारी कोई रह ही नहीं जाता। ब्रह्माके एक दिनके बीतनेपर प्रलय होता है और ब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु बीतनेपर जो प्रलय होता है उसका नाम महाप्रलय है।

* 'ईस्वर कहई' भा० दा०। 'मृषा बचन नहिं ईश्वर कहहीं'—का०।

गौड़जीका मत है कि यहाँ महाप्रलयसे कल्पान्त अभिप्रेत है; क्योंकि अभी २७ कल्प इस पर्वतपर बीते हैं, अभी महाप्रलय कोई हुआ नहीं। पर इससे उनके महाप्रलयमें भी नाश न होनेसे कोई शंका नहीं हो सकती। *'कबहुँ काल न ब्यापिहि तोही।'* महाप्रलय आनेपर भी नाश न होगा। ☞महाप्रलयमें भुशुण्डिजी कहाँ रहते हैं। यह पूर्व (८८। १) में लिखा जा चुका है।

वि० त्रि०—प्रलयके तीन प्रकार शास्त्रोंमें कहे हैं—(१) नैमित्तिक प्रलय, (२) प्राकृत प्रलय और (३) आत्यन्तिक प्रलय। नैमित्तिक प्रलय तो कल्पके अन्तमें होता है। जब जगन्नाथ तीनों लोकका प्रलय करके शेष-शय्यापर विराजमान होते हैं, और प्राकृत प्रलय उसको कहते हैं, जब पृथ्वीका लय जलतत्त्वमें और जलतत्त्वका लय तेजस्-तत्त्वमें, उसका लय वायुतत्त्वमें, वायुका आकाशतत्त्वमें, उसका अहंकारतत्त्वमें। अहंकारका महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वका प्रकृतिमें लय हो जाता है। यही महाप्रलय है (और आत्यन्तिक प्रलय तो मोक्ष है) इस महाप्रलयमें भी भुशुण्डिजीका नाश नहीं होता। जब पृथ्वीतत्त्व जलतत्त्वमें लय होने लगता है, तब भुशुण्डिजी अपनी जलरूपसे कल्पना कर लेते हैं। इसी भाँति तत्त्वोंके साथ कल्पना करते प्रकृतिमें पहुँच जाते हैं, फिर जब सृष्टि होने लगती है तो उसी रीतिसे कल्पना करते-करते फिर भौतिक शरीरमें आ जाते हैं।

नोट—४ (क) *'नहिं ईश्वर कहई',* यथा—*'संभु गिरा पुनि मृषा न होई।'* (१। ५१। ३), *'सुनहिं सूद्र मम बचन प्रवाना।'* (१०९। ८) देवता भी झूठ नहीं बोलते और ये तो ईश्वर हैं, महादेव हैं, ये असत्य कैसे कह सकते हैं? *'ईश्वर'* शिववाचक है, यथा—*'ईस अनेक करवरे टारी'।* (ख)—*'सोउ मोरे मन संसय अहई'* इति। इसीको आगे और स्पष्ट करते हैं। भाव कि महाप्रलय और कालका विचार करते हैं तो यह बात सत्य नहीं समझ पड़ती और यह शिवजीका वचन है, अतः यह असत्य भी हो नहीं सकता, इति संशय है। किसी बातका निश्चय न कर सकना संशयका अर्थ हुआ।

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा॥ ७॥
अंडकटाह अमित लयकारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी॥ ८॥
सो०—तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन।
मोहि सो कहहु कृपाल ग्यान प्रभाव कि जोग बल॥ ९४॥

शब्दार्थ—**कलेवा**=वह सूक्ष्म भोजन जो सबेरे बासी मुँह किया जाता है। जलपान। बालभोग। **लय**=सृष्टिके नाना रूपोंका लोप होकर अव्यक्त प्रकृतिमात्रका रह जाना। प्रलय। एक पदार्थका दूसरेमें इस प्रकार मिल जाना कि वह तद्रूप हो जाय, उसकी सत्ता पृथक् न रह जाय। **दुरतिक्रम**=उल्लंघन किये जानेके अत्यन्त अयोग्य। दुर्घट।

अर्थ—हे नाथ! नाग, नर, देवता, चर और अचर सभी जीव एवं सारा जगत् ही कालका कलेवा है॥ ७॥ असंख्यों ब्रह्माण्डोंका लय करनेवाला काल सदा ही भारी अनिवार्य है॥ ८॥ अत्यन्त कठिन भयंकर काल आपको नहीं व्यापता, इसका क्या कारण है? हे कृपालु! मुझसे कहिये कि यह ज्ञानका प्रभाव है या कि योगबलका प्रभाव है?॥ ९४॥

नोट—१ (क) अगजग जीवसे चारों योनियोंके तथा चेतन-अचेतन प्राणसहित और प्राणरहित सब जीव, *'नाग नर देव'* से पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग तीनों लोकोंके जीव और *'सकल जग'* से ब्रह्माण्डमात्र (जिसमें ब्रह्मा भी आ गये) सूचित किया। (ख) *'काल कलेवा'* का भाव कि यह सब उसका बालभोग है, नाश्ता है; इतनेसे भी उसकी तृप्ति नहीं होती। इसीका समर्थन आगे करते हैं कि *'अंडकटाह……'।* अर्थात् एक ब्रह्माण्ड तो उसका कलेवा था, असंख्यों ब्रह्माण्डोंको अपनेमें विलीन कर लेना यह उसका भोजन है। यथा—*'जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥'* पुनः, यथा—अगस्त्यवाक्य—*'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया॥'* अर्थात्

ये सब ब्रह्माण्ड खानेके लिये फल-स्वरूप हैं। जैसे वृक्षसे फल तोड़ते-खाते देर नहीं लगती, यथा—'*मैं बानर फल खात न बारा*', वैसे ही काल असंख्यों ब्रह्माण्डोंको अनायास ही भक्षण कर लेता है।

२ (क)—'*अंडकटाह*…… ।' कटाह कहा, क्योंकि कड़ाहरूप है। कड़ाहमें घी, तेल, पदार्थ जलते वा तप्त होते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डोंमें जीव पचते, मरते त्रिताप पाते हैं—(पां०) (ख) '*काल सदा दुरतिक्रम भारी*' और '*काल अति कराल*' अमित ब्रह्माण्डोंको सहज ही लय करनेके सम्बन्धसे ये विशेषण दिये गये, यथा—'*ते फल भक्षक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥*' (आ० १३) पुनः कोई इससे बच नहीं सकता यह दरसानेको '*दुरतिक्रम*' कहा, स्वरूपसे विकराल और दयारहित होनेसे '*अति कराल*' कहा, किसीका मुलाहिजा नहीं करता।

३—'*कृपाल*' का भाव कि यह आपकी बड़ी कृपा होगी। इसके लिये मैं आजीवन आपका कृतज्ञ रहूँगा। यह उनका रहस्य है, इससे कृपा करके कहनेको कहा।

रा० प्र०—भाव कि ज्ञानिशिरोमणि योगीश्वर मृत्युञ्जय कहलाते हैं। सम्भवत: वैसे ही आप भी कालविजयी होंगे।

वै०—भाव कि यह अद्‌भुत सिद्धाई है। यह ज्ञानका प्रभाव है! अर्थात् पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर है, अहंकार बुद्धितक सूक्ष्मशरीर है, आदि-प्रकृति कारणशरीर है—जहाँतक माया है वहाँतक कालकी गति है। और ज्ञानप्रभावसे जब आत्मरूप तदाकार है तब वहाँ कालकी गति नहीं। अत: कहिये कि क्या अखण्डज्ञानके प्रभावसे आपको काल नहीं व्यापता! या कि योगबलसे, अष्टाङ्गयोगद्वारा, देह ही सिद्ध कर ली है, जिससे जिस कालमें जो तत्त्व रहता है उसीमें मिलकर बने रहते हैं।

नोट—४ '*ज्ञान प्रभाव कि जोग बल*' का भाव कि योगी लोग योगबलसे कालको जीत लेते हैं। भागवतमें कहा है कि 'भगवान्‌का भक्त कार्य-कारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई इस भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको विचारद्वारा जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपसे स्थित होता है।' (३ । २८। ४४) यथा—'**तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्। दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥**'

दो०—प्रभु तव आश्रम आए* मोर मोह भ्रम भाग।
कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग॥ ९४॥

अर्थ—हे प्रभो! आपके आश्रममें आते ही मेरा मोह और भ्रम भाग गया। इसका क्या कारण है? हे नाथ! यह सब प्रेमसहित कहिये॥ ९४॥

नोट—☞१ यहाँतक चार प्रश्न हुए—(१) सर्वज्ञादि एवं रामभक्त होते हुए यह काकतन क्यों मिला? पंजाबीजी इस प्रश्नमें दो विभाग करते हैं, क्योंकि भुशुण्डिजीने दो बातें कही हैं; एक तो यह कि 'क्यों इसे छोड़कर दूसरा उत्तम शरीर नहीं धारण कर लेते?' और दूसरे यह कि 'क्यों यह शरीर मिला?' (२) यह रामचरितसर कहाँ मिला? (३) महाप्रलयमें भी आपका नाश क्यों नहीं? काल क्यों नहीं व्यापता? ज्ञानके प्रभावसे या योगबलसे? (४) आपके आश्रममें आनेसे मोहभ्रम नष्ट हो जानेका क्या कारण? इनका क्रमसे भुशुण्डिजी उत्तर देंगे?

२ (क) श्रीपार्वतीजीके प्रश्न करनेपर शिवजीने कहा था कि '*ऐसेइ प्रश्न बिहंगपति कीन्ह काग सन जाइ।*' (५५) दोनोंका मिलान—

बिरति-ज्ञान-विज्ञान दृढ़	*१ ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा।*
रामपरायन, रामचरन अतिनेह, रामभगतिरत गत मदमाया	*२ रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥*
गुनागार मतिधीर	*३ सुमति सुसील सरल आचारा। सर्वज्ञ*……
बायसतन रघुपति-भगति मोहि परम	*४ ज्ञान*…… *रघुनायक के तुम्ह प्रियदासा॥*

* आएउँ—(का० रा० गु० द्वि०)। २—'तव आश्रम आए मोह……', यथा—'देखि सयल प्रसन्न मन भएऊ। माया मोह सोच सब गएऊ॥' ६२(२), 'देखि परमपावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥' ६३ (२)।

संदेह।''''' केहि कारन पाएउ कागसरीर	*कारन कवन देह यह पाई।*
यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।	*५ रामचरितसर सुंदर स्वामी।*
कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥	*पाएउ कहाँ कहहु नभगामी॥*

(ख)—*'ऐसेइ'* का अर्थ है इसी प्रकारके। 'यही प्रश्न' न कहकर 'ऐसेइ प्रश्न' कहनेसे ये सब प्रश्न और इसी सम्बन्धके और भी प्रश्न जना दिये; क्योंकि गरुड़जीने तो और भी प्रश्न इसी सम्बन्धमें किये हैं जो पार्वतीजीने नहीं किये थे। जैसे कि १—*'महाप्रलयेहुँ नास तव नाहीं'* का क्या कारण? २—आश्रममें आते ही मोह दूर होनेका क्या कारण?

४—*'सब कहहु सहित अनुराग'* इति। (क) यहाँ सब प्रश्न हो चुके, अतः कहा कि *'सब'* कहो। अर्थात् सब प्रश्नोंका उत्तर दीजिये। पुनः, *'कारन कवन सो सब'* का भाव कि काकदेहका कारण कहिये, काल न व्यापनेका कारण कहिये, नभगामीकी रामचरितसरकी प्राप्तिका कारण कहिये और आश्रममें आनेसे मोहादिके छूट जानेका कारण कहिये—इति 'सब कारण' कहिये। पुनः, 'सब कारण' अर्थात् इनमें यदि एकसे अधिक कारण हों तो जितने कारण हों वह सब कहिये, एक ही कहकर न रह जाइयेगा। (ख) *'सहित अनुराग'* पर प्रश्नोंका उपसंहार है। भाव कि जिज्ञासु शिष्य जानकर उसी प्रकार प्रेमसे कहिये जैसे उससे कहा जाता है।

☞ गरुड़-आर्त्तविनययुक्त प्रश्न समाप्त हुए।

'गरुड़के प्रश्नोंके उत्तर'

गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा॥ १॥
धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥ २॥
सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम के सुधि मोहि आई॥ ३॥
सब* निज कथा कहौं मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई॥ ४॥

अर्थ—हे उमा! गरुड़जीकी वाणी सुनकर काकभुशुण्डिजी हर्षित हुए और परमप्रेमसे बोले॥ १॥ हे उरगारि! आपकी बुद्धि धन्य है, धन्य है! आपके प्रश्न मुझे अत्यन्त प्यारे लगे॥ २॥ आपके प्रेमभरे सुहावने प्रश्न सुनकर मुझे अपने अनेक जन्मोंकी याद आ गयी॥ ३॥ मैं अपनी सब कथा विस्तारसे कहता हूँ। हे तात! मन लगाकर सादर सुनिये॥ ४॥

उपक्रम	उपसंहार
बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोलेउ गरुड़	*१ गरुड़ गिरा सुनि*
सादर कहहु। जानि दास निज मोहि	*२ नाथ सब कहहु सहित अनुराग*

☞ यहाँ गरुड़ और भुशुण्डि दोनोंकी समशीलता दिखायी है—

जैसे यहाँ *'कहहु सहित अनुराग'*	१ वैसे ही इधर *'बोलेउ परम अनुराग'*
,, प्रथम *'ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि'* तब प्रश्न किये थे अतएव	२ ,, *धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी। सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई* यह प्रशंसा है
,, कहा—*'सब कहहु' 'कहहु मोहि सकल'*	३ ,, प्रतिज्ञा—*'सब निज कथा कहौं'*
,, *'सादर कहहु'*	४ ,, *सुनहु सादर मन लाई*
,, *'सुनि भुसुंडि के बचन'''। हरषित''''''*	५ ,, *गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा।*

नोट—१ *'बोलेउ उमा परम अनुरागा'* इति। गरुड़ने कहा था कि 'अनुराग-सहित' कहिये; अतः ये परमानुराग से बोले। आगेके सब वचनोंसे 'परम अनुराग' प्रकट है।

पं०—परम प्रेमसे बोलनेका हेतु कि—विहंगनायक है, हरिवाहन है, उससे प्रेम करना ही चाहिये।

* अब—(का०)।

घरमें आये हुए हैं यह उनका सत्कार है। अथवा पूर्वोपदेशकी सफलता देख उसे उत्तम अधिकारी जान प्रसन्न हुए।

नोट—२ (क) *'धन्य धन्य तव मति ……'* इति। मिलान कीजिये—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।'* (१ । ११२। ६) से वहाँपर सकललोकपावनी रघुपतिकथा पूछने तथा जगत्-हितके लिये प्रश्न करनेसे पार्वतीजीको धन्य-धन्य कहा है। यहाँ गरुड़जीके प्रश्नसे भी जगत्का उपकार होगा, यथा—*'सुनि प्रभुपद रति उपजै जाते मिटहिं कलेस।'* (९६) पार्वतीजीने रघुपतिकथा पूछकर उपकार किया, गरुड़ने भागवत-कथा पूछकर उपकार किया। इससे जनाया कि भगवत् और भागवत दोनोंकी कथाओंसे प्रभुपद-प्रीति होती है और भवका नाश होता है। (ख) *'प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी।'*

☞ गोस्वामीजीने 'प्रश्न' शब्दका स्त्रीलिङ्गमें प्रायः सर्वत्र प्रयोग किया है, यथा—*'कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।'* (११४। १६) *'प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥'* (बा० १११। ६) इत्यादि।* (ग) *'सुहाई अति प्यारी'* विशेषणोंसे छलरहित जनाया—*'छलबिहीन सुनि सिव मन भाई।'* (१। १११। ६) देखिये।

वै०—*'धन्य धन्य'* कहनेका कारण दूसरे चरणमें कहा कि तुम्हारे प्रश्न अत्यन्त उत्तम हैं, मुझे प्रिय हैं। प्रियका कारण यह कि मुझे अपने अनेक जन्मोंकी सुधि इनसे हो आयी। गायी अर्थात् विस्तारसे।

वि० त्रि०—आगे कहेंगे कि *'इहाँ बसत मोहि सुनु खगईसा। बीते कल्प सात अरु बीसा॥'* अर्थात् सत्ताईस कल्पके पहिले उन्होंने महर्षि लोमशसे रामचरितमानस सुना था। उसके पहिले एक सहस्र जन्मतक सर्प-योनियोंमें रहे थे और उसके पहले शूद्र-योनिमें थे। वहींसे भुशुण्डिजी कथा प्रारम्भ करेंगे, क्योंकि गरुड़जीके प्रश्नका उत्तर बिना उन सब कथाओंके कहे पूरा हो नहीं सकता। अतः भुशुण्डिजीको वे सब जन्म स्मरण हो आये। अतः कहते हैं—*'बहुत जनम कै सुधि मोहि आई।'*

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥ ५॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै छेमा॥ ६॥
एहि तन रामभगति मैं पाई। ताते मोहि ममता अधिकाई॥ ७॥
जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥ ८॥

अर्थ—जप, तप, यज्ञ, शम, दम, व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग और विज्ञान सबका फल रघुपति-पदमें प्रेम होना है। इसके बिना कोई कल्याण नहीं पा सकता॥ ५-६॥ इस शरीरसे मैंने रामभक्ति प्राप्त की; इसीसे इसमें मेरी ममता अधिक है॥ ७॥ जिससे कुछ अपना स्वार्थ होता है उसपर सभी कोई ममत्व करते हैं॥ ८॥

वै०—गरुड़जीने काक-शरीरका कारण पूछा, भुशुण्डिजी कारण पीछे कहेंगे, पहले यह कहते हैं कि वह देह क्यों प्रिय है।

नोट—१ ☞ गरुड़जीने अन्तमें जो कहा था कि *'ज्ञान प्रभाव कि जोगबल'* उसका सूक्ष्म रीतिसे प्रथम ही निषेध करते हुए भुशुण्डिजी उनके प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर दे रहे हैं। यहाँ जितने नाम गिनाये हैं उनमें योग और ज्ञान इन दोनोंको भी कह दिया है।

२ (क) *'सब कर फल रघुपति पद प्रेमा'* का भाव कि यदि अनेक जप, तप, यज्ञादि करनेपर रघुपति-पदमें प्रेम न हुआ तो वे सब निष्फल हैं, व्यर्थ हैं। रघुपति-पदमें प्रेम हुआ तो ही उनको सफल समझना चाहिये। ☞ मिलान कीजिये—'**धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम**

---

* रा० प्र०—'प्रश्न' को स्त्रीलिंग 'उरगारी' शब्दके अनुप्रासके लिये भी हो सकता है, यथा—'मरम बचन जब सीता बोला। प्रभु प्रेरित लछिमन मन डोला' में डोलाके अनुप्रासले बोला लिखा। 'कहेउँ न कछु करि जुक्ति बिसेषा। यह सब मैं निज नयनन्हि देषा' में देषाके अनुप्रासले विसेषा कहा। इसी तरह और भी—'गिरि पर चढ़ि लंका तेइ देषी कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥' 'गगन पंथ देषी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥' इत्यादि।

एव हि केवलम्॥' (भा० १ । २ । ८) श्रीसूतजी कहते हैं कि मनुष्योंका भली प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी धर्म यदि भगवान्‌की कथामें प्रेम उत्पन्न न करे तो वह केवल श्रममात्र ही है।—भागवतके इस प्रसङ्गमें शौनकादि ऋषिगणने भगवत्-कथा सुननेकी इच्छा प्रकट की है, इसमें कथामें 'प्रेम' को फल कहा। कथामें प्रेम और रघुपतिमें प्रेम दो बातें नहीं हैं। कथासे रघुपति-पद-प्रेमकी वृद्धि ही होती है। पुनः, (ख) रघुपति-पद-प्रेमको ही फल और उसीसे कल्याण कहनेका भाव कि जप, तप, यज्ञादिसे स्वर्ग, इन्द्रपद, ब्रह्मलोक इत्यादि और विरति-विवेकादिसे सुरदुर्लभ पद मिलता है, पर बिना भक्तिके उस पदको पहुँचकर भी पतित होना पड़ता है, यथा—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी'* ये वेदवाक्य हैं और रघुपति-पद-प्रेम होनेसे पुनरावृत्ति नहीं होती, यथा—*'हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे'* यही क्षेम है। यहाँ प्रथम विनोक्ति और तृतीय तुल्ययोगिता अलङ्कार हैं। (ग) ☞ यही मत श्रीशिवजी और श्रीवसिष्ठजीका है। यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई।''सब कर फल हरिभगति भवानी॥'* (१२६। ४—८), *'तव पदपंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥'* (४९। ४)

३—*'सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।'''''* कहकर *'एहि तन रामभगति मैं पाई'* कहनेका भाव कि सब साधनोंका फलस्वरूप एवं कल्याणरूप वह प्रेम मुझे इस शरीरके पानेपर प्राप्त हुआ।

४—*'ताते मोहि ममता अधिकाई'* का भाव कि सज्जन लोग शरीर इत्यादिका ममत्व अधिक नहीं रखते, यह तो अविवेकी पुरुषोंका लक्षण है। यथा—*'सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥'* (२ । १४२। २) *'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'* (४ । १२ । ५) (रा० शं० श०) पर इससे मेरा परम परमार्थरूपी स्वार्थ सिद्ध हुआ, अतः इसपर मेरा ममत्व है। परम परमार्थ और सच्चा स्वार्थ यही है कि श्रीरामपदमें प्रेम हो। यथा—*'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥'* (२ । ९३। ६), *'स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन रामपद नेहा॥'* (९६। १) आगे इसीपर लौकिक उदाहरण देते हैं कि जिससे किञ्चित् भी सांसारिक स्वार्थ मनुष्यका सिद्ध होता है, उसपर उस मनुष्यकी प्रीति हो जाती है। भाव कि तब भला जिससे परम परमार्थकी सिद्धि हुई उसपर मेरा प्रेम क्यों न हो ! (ख) *'जेहि तें''''तेहि पर ममता''''* यथा—*'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'* (४ । १२। २) आगे इसीके और प्रमाण स्वयं दे रहे हैं।

सो०—पन्नगारि असि नीति श्रुतिसंमत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित॥
पाट कीट तें होइ तेहि तें पाटांबर रुचिर।
कृमि पालै सबु कोइ परम अपावन प्रान सम॥९५॥

अर्थ—हे गरुड़ ! ऐसी नीति है, इसमें वेदका सम्मत है और सज्जन (भी) कहते हैं कि अत्यन्त नीचसे भी अपना परम हित होता हुआ जानकर उससे प्रेम कर लेना चाहिये। रेशम कीड़ेसे होता है और उससे सुन्दर पीताम्बरादि रेशमी वस्त्र होते हैं, इसीसे, यद्यपि वह परम अपवित्र है तो भी, उस कीड़ेको सब कोई प्राणके समान पालते हैं॥ ९५॥

नोट—१ (क) *'असि नीति।'* भाव कि लोकरीतिहीपर बात नहीं है जो मैंने कही, किंतु नीति भी ऐसा ही कहती है। (ख) पुनः, *'असि नीति श्रुतिसंमत सज्जन कहहिं'* का भाव कि यह नीति मैं ही नहीं कहता; किंतु वेद और सज्जन भी यही कहते हैं, यह लोक और वेद दोनोंका मत है।

रा० शं०—*'अति नीचहु सन प्रीति'* का भाव कि साधारणतः बुद्धिमान् नीचसे प्रीति नहीं करते । यथा—*'बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।'* (१०६। १३) पर उससे अपना परम हित देखकर उससे प्रीति करते ही बनती है।

वै०—*'पाट कीट तें होइ'*। चीन तथा बंगालमें एक बड़ी-सी तितली होती है जो सरसोंभरका गोल

अण्डा देती है। अण्डेके सूतसे (सूत्र-सदृश) कीड़े निकलते हैं, जो तूतादि कोमल पत्ती खाते हैं। जब वे दो-तीन अंगुलके हो जाते हैं, तब उनपर खोल पड़ जाता है। जब वे खोलसे निकलते है तब उनके १६ पैर और १२ आँखें हो जाती हैं, तब वे रेशम उगल-उगलकर गेंद-सरीखा एक गोला बनाकर उसीके भीतर बंद रहते हैं। कुछ दिनोंमें जब गोला काटकर वे निकलते हैं तब वे तितलीरूप हो जाते हैं, उस समय इनके छः पैर, दो आँखें और दो पंख हो जाते हैं। लोग उस गोलेको रूईके समान तूँबकर रेशम कर लेते हैं। रेशमको कातकर उसीसे पाटाम्बर बनाया जाता है। यह कीड़ा महा अपावन माना जाता है।

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन रामपद नेहा॥ १॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥ २॥
रामबिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥ ३॥
रामभगति एहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी॥ ४॥
तजौं न तनु निज इच्छा मरना। तन बिनु बेद भजन नहिं बरना॥ ५॥

अर्थ—जीवका सच्चा स्वार्थ यही है कि मन-कर्म-वचनसे रामपदमें प्रेम हो॥ १॥ वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिस शरीरको पाकर उससे श्रीरघुवीरका भजन किया जाय॥ २॥ यदि रामविमुख ब्रह्माजीके समान शरीर पा जाय तो भी कवि और पण्डित उसकी प्रशंसा नहीं करते॥ ३॥ इस तनमें रामभक्ति मेरे हृदयमें जमी (उत्पन्न और स्थिर हुई) इसीसे हे स्वामी ! वह मुझे परमप्रिय है॥ ४॥ मैं यह शरीर नहीं छोड़ता, यद्यपि मरना अपनी इच्छापर है, क्योंकि बिना तनके भजन करना वेद नहीं वर्णन करते॥ ५॥

नोट—१ पूर्व कहा कि जिससे कुछ निज स्वार्थ होता है उसपर स्वभावतः मनुष्यका प्रेम होता है। उसका दृष्टान्त रेशमके कीड़ेका दिया कि अपावन कीड़ेसे रेशम प्राप्त होता है, इस स्वार्थको देखकर लोग उसे अपावन नहीं गिनते वरन् प्रेमसे पालते हैं। अब दिखाते हैं कि जीवका स्वार्थ क्या है ? मन-कर्म-वचनसे श्रीराम-पदमें प्रेम होना सच्चा स्वार्थ है, जिस तनसे वह स्वार्थ प्राप्त हो वही तन सुन्दर, अपावन होनेपर भी प्रिय और पालन योग्य है और जिस तनमें यह स्वार्थ न प्राप्त हो वह पावन और सुन्दर होते हुए भी अपावन और असुन्दर ही है। [**'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। तथा हि विप्राः षट्शास्त्रयुक्ता मद्भक्तिहीनाः खरवद्वहन्ति॥'** (वै०)]

२ ***'स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा'*** ....।' इति। (क) [यदि गरुड़ कहें कि 'कृमिसे तो धनरूपी स्वार्थ सिद्ध होता है, तुमको इस देहसे क्या स्वार्थ मिला ?' तो उसपर कहते हैं कि ***'स्वारथ साँच'*** .....' (पं०)।] ***'साँच'*** का भाव कि स्वार्थ झूठा भी होता है। धन, धाम, स्त्री, पुत्र, स्वर्ग इत्यादि ऐसे ही स्वार्थ हैं, क्योंकि इनसे कल्याण नहीं, ये भवमें भ्रमण करानेवाले हैं। सच्चा स्वार्थ वह है जो भवबन्धनसे निवृत्त करा दे, यही परम स्वार्थ है। (ख)—इसका दूसरा चरण *'मन क्रम बचन रामपद नेहू'* अ० ९३ (६) में भी है। वहाँ श्रीरामपदप्रेमको परम परमार्थ कहा है, यथा—*'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥'* दो जगह दो बातें पृथक्-पृथक् कहकर जनाया कि—(१) *'मन-क्रम-बचन रामपद नेहा'* होना यही जीवके लिये सच्चा स्वार्थ है और यही सच्चा परमार्थ है, इसके अतिरिक्त जो भी स्वार्थ और जो भी परमार्थ है वह सच्चा नहीं है। (२) सच्चा स्वार्थ ही 'परम परमार्थ' है तथा जो परम परमार्थ नहीं है वह सच्चा स्वार्थ नहीं है, वरन् मोहमूलक स्वार्थ है, यथा—*'सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं॥'* (अ० ९२) (ग) *'जेहि ते कछु निज स्वारथ होई'* ....' कहकर ***'स्वारथ साँच'*** कहनेका भाव कि वह सांसारिक स्वार्थ है, झूठ है। उस झूठे और वह भी किञ्चित् स्वार्थको पाकर लोग उस स्वार्थके देनेवालेपर प्रेम करते हैं तब जिससे सच्चा स्वार्थ मिले उसपर 'परमप्रेम' होना ही चाहिये। पुनः यह कि वह प्रेम करने योग्य नहीं है और यह प्रेम करने योग्य है।

३ (क) ***'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा'*** इति। भाव कि ऐसे शरीरधारी पावनकर्त्ता है, दर्शनीय

हैं। भाव यह कि उनके दर्शन एवं स्पर्श आदिसे पाप नष्ट हो जाते हैं, मोहादि दूर हो जाते हैं, कल्याण होता है, इत्यादि। यथा—*'मुख देखत पातक हर परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरुब भाग मिलाहिं॥'* (वै० सं० २४) *'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए।'''॥'* (वि० १३६। १०) (ख) *'जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा'* का भाव कि रामभक्ति होनेसे शरीर सफल हो गया, यथा—*'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥'* (४ । २३। ६)

४ *'रामबिमुख लहि''''''''* ' इति। (क) *'बिधि सम'* का भाव कि चाहे वह तीनों लोकोंका रचयिता, नियन्ता, परपितामह, ब्राह्मण इत्यादि ही क्यों न हो। रामविमुख होनेसे ऐसा गुणसम्पन्न शरीर भी प्रशंसनीय नहीं होता। (ख) *'कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही'* । पूर्व भक्तियुक्त शरीरको *'पावन सुभग'* कहकर इसके विषयमें *'न प्रसंसहिं'* कहनेका भाव कि रामविमुख होनेसे यह पावन और सुभग नहीं है। पुनः भाव कि भक्तिहीन होनेसे जीव प्रभुको सर्वसाधारणके समान ही प्रिय है, अधिक नहीं; यथा—*'भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥'* (८६। ९) अतः इसकी प्रशंसा लोकमें भी नहीं होती। जो भक्तिवंत शरीर है उसकी प्रशंसा सब करते हैं चाहे वह अति नीच ही क्यों न हो, क्योंकि वह भगवान्‌को परमप्रिय है। यथा—'**चाण्डालं मम भक्तं च नावमन्येत बुद्धिमान्**'—(भा०)। '**विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥**' (भा०) **ये शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने॥**' जैसे कि वानरदेहमें श्रीहनुमान्‌जी और श्रीसुग्रीवादि, निशिचरदेहमें प्रह्लाद-विभीषणादि, गृध्रदेहमें जटायु इत्यादिकी प्रशंसा जगत्‌में हो रही है, वैसे ही मेरी काकदेह प्रशंसनीय है। मिलान कीजिये—*'काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबही के। मनुजदेह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पीके॥ सूर सुजान सपूत सुलक्षन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई॥'* (वि० १७५)

वि० त्रि०—देहधारियोंमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मदेवकी देह है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति नारायणके नाभिपद्मसे है और जितने देह हैं वे तो ब्रह्मदेवके रचे हैं। कागदेह अति अधम है; क्योंकि पक्षियोंमें भी वह चाण्डाल है। परंतु प्रशंसा उसी देहकी है, जिससे मनुष्य रामसम्मुख हो। विधिसम देह मिलनेसे क्या लाभ हुआ, यदि उससे रामविमुखता हुई। कागदेह अधम होनेपर भी प्रशंसनीय है। यदि उसके द्वारा जीव रामसम्मुख हो सके। यहाँ *'बिधिसम देह'* कागदेहके विरोधमें कहा गया है।

नोट—५ पं० पु० उत्तर० १२८ में भी कहा है कि भक्तिहीन होकर चारों वेदोंके पढ़नेसे क्या लाभ? भक्तियुक्त चाण्डाल ही क्यों न हो, वह देवताओंद्वारा भी पूजित होता है। यथा—'**भक्तिहीनैश्चतुर्वेदैः पठितैः किं प्रयोजनम्। श्वपचो भक्तियुक्तस्तु त्रिदशैरपि पूज्यते॥**' (१०२)

नोट—६ *'रामभगति एहि तन उर जामी'* इति। *'जामी'* से दृढ़ भक्ति होना जनाया, जिसे विघ्नका भय नहीं *'जामी'*—पद देकर शरीरको भूमि, हृदयको थाल्हा और भक्तिको वृक्ष जनाया। [शूद्रतनमें शिवजीके आशीर्वादसे बीज पड़ा। अर्थात् 'श्रीशिवाशीर्वाद बीज है। तत्पश्चात् गुरु लोमशजीकी कृपासे भक्ति जमी, अङ्कुरित हो आयी। (वै०)]

७ *'तजौं न तनु निज इच्छा मरना'''''* ' इति। (क) लोमशजीके आशीर्वादसे मृत्यु अपने अधीन है, यह आगे कहेंगे, यथा—*'सदा रामप्रिय होब तुम्ह''''कामरूप इच्छामरन ग्यान बिरागनिधान॥'* (११३) (ख)—*'तजउँ न तन'* का कारण दूसरे चरणमें देते हैं कि वेदवाक्य है कि बिना तनके भक्ति नहीं हो सकती। जब तन रखना ही है तब वही शरीर क्यों न रखूँ जिससे मेरा परमहित हुआ, यह विचारकर काकतन ही रखे हुए हूँ। इसीपर मेरा ममत्व है। (ग)—*'रामबिमुख लहि बिधिसम देही''''।'* का दूसरा भाव ध्वनिसे यह निकलता है कि नरदेह, द्विजदेह इत्यादि देहोंमें रामप्रेम स्थिर न हुआ, अतः वह देह क्यों रखूँ, उनमें मेरा ममत्व अधिक नहीं हो सकता, यथा—*'सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा॥'* दृष्टान्त—दार्ष्टान्तका मिलान। यथा—

कृमि परम अपावन	१ काकतन परम अपावन
कृमिसे स्वार्थ पाटांबर-प्राप्ति	२ काकतनसे स्वार्थ रामपदप्रेम
स्वार्थवश *'कृमि पालइ सब कोइ प्रानसम'*	३ रामभक्तिप्राप्तिसे काकतन परमप्रिय
पाटांबरसे कृमि पावन माना गया	४ रामभक्ति जमनेसे काकतन पावन

करु०—'बिना तनके जीव कैसा और कहाँ जाता है, जो ऐसा कहा कि बिना तनके भजन नहीं'? इसमें भाव यह है कि ज्ञानसे कैवल्य प्राप्त होनेपर शरीर नहीं रहता, शरीर न रहनेसे तब भजन नहीं होता और बिना भजनके मुक्ति भी किस कामकी ? पुनः, एक शरीर छोड़ते और दूसरा शरीर ग्रहण करते समयमें अज्ञानदशा होती है तब भी भजनमें बीच पड़ता है। देवशरीर लिङ्गशरीर है, उसमें भजन नहीं होता। *'तन बिनु'* से ये तीनों अवस्थाएँ सूचित कर दी हैं।

वै०—*'रामभगति एहि तन उर जामी''''बरना।'* इति। भाव कि लोमशजीकी कृपासे मरण अपनी इच्छापर है पर देह नहीं त्यागता, क्योंकि उसके बिना भजन बनता नहीं और यदि दूसरा तन धरूँ तो उसमें प्रथम गर्भवासका दुःख, फिर बाल अज्ञदशाका विक्षेप, फिर उसमें गुरु पुनः करना पड़े, माता-पितादिका बन्धन छुड़ाना पड़े इत्यादि आफत कौन ले, उसपर भी मोहका भय। मोहका भय क्यों ? इसके लिये आगे कहते हैं कि *'प्रथम मोह·····'*

नोट—८ गरुड़जीका प्रश्न था कि *'कारन कवह देह यह पाई'* पर यह प्रश्न उन्होंने *'तुम्ह सर्वज्ञ तज्ञ तम पारा।''''रघुनायकके तुम्ह प्रिय दासा॥'* कहकर किया था, जिसका अभिप्राय था कि ऐसे गुण-सम्पन्नका काक-शरीर न होना था। अतः प्रथम भुशुण्डिजीने इस अन्तर्गत शंकाका निवारण किया, यह कहकर कि रामभक्ति इस शरीरमें मिली, अतः मैं अपनी इच्छासे इसे रखे हुए हूँ। यहाँतक यह कहकर आगे 'काग-शरीर' पानेका कारण बताते हैं।

प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा। राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा॥ ६॥
नाना जनम करम पुनि नाना। किए जोग जप तप मख दाना॥ ७॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिगोना**—(सं० विगोपन)=नष्ट करना, बिगाड़ना।=भ्रममें डालना, बहकाना। तंग करना, खोना।

अर्थ—पहले मोहने मुझे बहकाकर बहुत नष्ट किया। रामविमुख (होनेसे) कभी भी मैं सुखसे नहीं सोया॥ ६॥ अनेक जन्म ले-लेकर फिर उनमें अनेक प्रकारके योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि अनेक कर्म किये॥ ७॥ हे खगेश ! ऐसी कौन योनि है जिसमें मैंने घूम-फिरकर बार-बार संसारमें जन्म न लिया हो ? अर्थात् ८४ लक्षयोनियोंमें बराबर चक्कर खाता फिरा॥ ८॥

नोट—१ *'प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा'* इति। (क) *'प्रथम'* का भाव कि जीवपर माया अपना आवरण डालती है तब प्रथम उसे मोह उत्पन्न होता है, जो सब मानसरोगों एवं संसारका मूल है। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* (१२१। २९) यह शिवप्रसादके पूर्वकी बात है, जैसा कि *'प्रथम जन्म के चरित अब कहौं।'* (९६) से स्पष्ट है। (ख) मोह होनेसे जीव बहुत दुःख पाता है, यथा—*'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा'* (१२१। २८) *'मोह बिगोवा'* अर्थात् भ्रममें डाल दिया, मुझे बिगाड़ डाला। रामविमुख करना विगोपन है, यथा—*'जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए॥'* (१। ४३। ७) पुनः मोहने बिगोया अर्थात् बहुत तंग किया। क्या तंग किया ? सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि रामविमुख कर दिया। (ग) रामविमुख कहकर उसका फल कहा कि *'सुख कबहुँ न सोवा'* यथा—*'रामबिमुख सुख सपनेहु नाहीं'; 'रामबिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ निसि बासर तयो तिहूँ ताय।'* (वि० ८३) ☞ *'राम बिमुख सुख कबहुँ कि सोवा'* कहकर जनाया कि रामाश्रित ही सुखकी नींद सो सकता है, यथा—*'प्रीति राम नाम सों प्रतीति रामनाम की प्रसाद रामनाम के पसारि पाँय सूतिहौं'* (क० ७। ६९)

☞ मिलान कीजिये—*'नाचत ही निसिदिवस मरयो। तबही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धरयो॥ बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भरयो। चर अरु अचर गगन जल थल में कौन स्वाँग न करयो॥ देव दनुज मुनि नाग मनुज नहि जाँचत कोउ उबरयो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हरयो। थके नयन पद पानि सुमति बल संग सकल बिछुरयो। अब रघुनाथ सरन आयो जन भवभय बिकल डरयो॥'* (वि० ९१) *'ऐसेइ जन्म समूह सिराने……'* (वि० २३५) *'जागै जोगी जंगल जती जमाती ध्यान धरै डरैं उर भारी लोभ मोह काम के। जागै राजा राजकाज सेवक समाज साज सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बामके॥ जागै बुध बिद्याहित पंडित चकित चित जागै लोभी लालच धरनि धन धाम के। जागै भोगी भोग ही बियोगी रोगी सोगबस सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥'* (क० ७ । १०९)

२ *'करम पुनि नाना किए'* का भाव कि पूर्व जन्मोंमें ये सब कर्म कर चुका तो भी चेत न हुआ, फिर भी उनमें मोहवश फँसता था। इनमें न पड़ना था फिर भी पड़ा। क्या नाना कर्म किये, सो आगे कहते हैं—नाना योग, नाना जप इत्यादि किये। नानाका अन्वय सबके साथ है क्योंकि ये सब अनेक प्रकारके होते हैं। अनेक प्रकारके योगोंका वर्णन महाभारत, श्रीमद्भागवत इत्यादिमें विस्तारसे है। (ख)-योग, यज्ञ, जप, तप और दानका दूसरा भाव कि मैंने चारों युगोंमें जन्म लिया, सत्ययुगमें योगारूढ़ होकर ध्यान किया, त्रेतामें यज्ञ किये, द्वापरमें जपादि पूजन किये और कलियुगमें दान किये पर (रामविमुख होनेसे) सुख न मिला। अथवा, सब युगोंमें सब धर्म किये। (ग)—काम्यकर्मोंका फल है—बारम्बार जन्म-मरण होना। अतः बारम्बार कर्म करना कहकर बारम्बार कर्मानुसार सब योनियोंमें जन्म लेना कहा। *'भ्रमि भ्रमि जग माहीं'*, यथा—*'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे।'* (१३ छं० २)

मिलान कीजिये—*'तब लौं मलीन हीन दीन सुख सपने न जहाँ तहाँ दुखी जन भाजन कलेस को। तब लौं उबैने पाँय फिरत पेटै खलाय बाये मुँह सहत पराभौ देस देस को॥ तब लौं दयावनो दुसह दुख दारिद को साथरी को सोइबो ओढ़िबो जूने खेस को। जब लौं न भजै जीह जानकी जीवन राम राजन को राजा सो तौ साहेब महेस को॥'* (क० ७। १२५) *'तौ लौं लोभ लोलुप ललात लालची लबार बारबार लालच धरनि धन धाम को। तब लौं बियोग-रोग-सोग भोग जातना को जुग सम लगत जीवन जाम जाम को॥ तौ लौं दुख दारिद दहत अति नित तनु तुलसी है किंकर बिमोह कोह काम को। सब दुख आपने निरापने सकल सुख जौ लौं जन भयो न बजाइ राजा राम को॥'* (क० ७ । १२४)

रा० प्र०—१ बिगोवा=खो दिया अर्थात् मोहने स्वस्वरूप और सत्पथ छिपा दिया। २—*भ्रमि-भ्रमि*=भ्रममें पड़-पड़कर कि सुखी रहूँगा।

देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भएउँ अबहिं की नाईं॥ ९॥
सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोह न घेरी॥ १०॥

अर्थ—हे गुसाईं! मैंने सब कर्म कर-करके देख लिये, पर अबकी इस समयके समान कभी सुखी न हुआ॥ ९॥ हे नाथ! शिवजीके प्रसादसे मुझे बहुतेरे जन्मोंकी सुध है और मेरी बुद्धिको मोहने नहीं घेरा॥ १०॥

नोट—१ (क) *'देखेउँ करि सब करम'* का भाव कि मैं वेद, शास्त्र, पुराणादिको कहा या ऋषियोंसे सुनी हुई नहीं कहता, मैंने प्रत्येक कर्म स्वयं करके उनका अनुभव किया है वही प्रत्यक्ष प्रमाण कह रहा हूँ। (ख) *'सुखी न भएउँ'* भाव कि उपर्युक्त कर्म सुखप्राप्तिके साधन कहे गये हैं, मैंने भी सुखप्राप्तिके लिये ही सब किये। (ग) *'अबहिं की नाईं'* का भाव कि उनमें कुछ सुख मिला पर वह सुख ऐसा न था जैसा अब है। आशय कि वह सुख अनित्य था, यह नित्य है। पुनः, *'अबहिं'* का भाव कि तब रामविमुख था इससे तब *'सुख कबहुँ न सोवा'* और अब रामशरण हूँ अतः अब सुखी हूँ। मिलान कीजिये—*'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै। मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेस से सेवत जन्म अनेक मरै॥ निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानलमें जुग पुंज जरै। मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख*

कौन हरै॥' (क० उ० ५५) पुनः, (च) भाव कि जो दुःखसे व्याकुल होता है वही सुखका यथार्थ अनुभव कर सकता है, अनेक योनियोंमें दुःख भोग करनेपर मुझे सुख अब मिला, इससे उस सुखका अनुभव मैं ही कर सकता हूँ।

२—*'सुधि मोहि''''सिव प्रसाद'*, यथा—*'कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।'* (१०९। ८) *'सिव प्रसाद'* पद दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। इसके कहनेका कारण यह है कि अनेक जन्मोंकी चर्चासे सन्देह होता कि इन्हें सुध कैसे बनी रही। जन्म-मरणके समय इतना दुःख होता है कि सब ज्ञान नष्ट हो जाता है।

रा० प्र०—*'सिव प्रसाद मति मोह न घेरी'* इति। जबसे शिवप्रसाद हुआ तबसे तो रामानुराग रहा है तब रामविमुख कैसे कहा ? इसका समाधान यह है कि—(१) *'प्रथम मोह'* इस पदसे यह लक्षित होता है कि शिवप्रसादसे अथवा इनके भजनके प्रतापसे उनके पूर्वके भी जो जन्म थे उनकी भी सुध आ गयी, उनमें सुख न मिला था। अथवा, (२) शिवजीका वर है कि *'उपजिहि रामभगति उर तोरे।'* जबतक वह भक्ति लोमशजी द्वारा सर्वांगपूर्ण प्राप्त न हुई थी तबतक मोह बना रहा।

वि० टी०—यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'जिसे शिवजी अथवा और देवताका वरदान न हो तो उसे भी क्या अपने पिछले जन्मोंकी सुधि रह सकती है?' तो उसका उत्तर यह है कि रह सकती है; परंतु उस मनुष्यको अष्टाङ्ग योग सिद्ध करते समय योगके छठवें अंग, ध्यान-साधनतक पहुँच गया हो। ध्यान-साधनके भी चार प्रकार हैं—पदस्थ-ध्यान, पिण्डस्थ-ध्यान, रूपस्थ-ध्यान और रूपातीत-ध्यान। इन चारोंमेंसे पिण्डस्थ-ध्यान करते समय जीवको पिछले सात जन्मोंकी सुधि आ जाती है। इसके बारेमें श्रीस्वामीचरणदासजीके ये वचन हैं—

'ब्रह्मांड सोई यह पिंड है यामें करि करि बास। कमलनके लखि देवता, लहै परापत तास॥ सीधै सागरे पिंडको षटचक्रहु को ध्यान। शोधत शोधत आ चढ़ै भँवरगुफा स्थान॥ तिरवेणी संगम बहै ज्योति जहाँ दरशाय। सात जन्म सुधि होइ जब ध्यान करै मन लाय॥ आगे कमल हजार दल सद्‌गुरु-ध्यान प्रधान। अमृत दरिया बहि चलै हंस करै जहँ न्हान॥ ऊपर तेजहिं पुंज है कोटि भानु परकास। शून्य शिखर ता ऊपरै योगी करै विलास॥'

नोट—माण्डव्य ऋषिको १०१ जन्मकी सुध थी, यह सब भजनका प्रताप है।

☞ यहाँतक निजदशावर्णन-प्रसङ्ग है।

दो०—प्रथम जन्म के चरित अब कहौं सुनहु बिहगेस।
सुनि प्रभुपद रति उपजै जातें मिटहिं कलेस॥
पूरब कल्प एक प्रभु जुग कलिजुग मलमूल।
नर अरु नारि अधर्मरत सकल निगम प्रतिकूल॥ ९६॥

अर्थ—हे पक्षिराज ! अब मैं अपने प्रथम जन्मके चरित कहता हूँ, सुनिये। इसे सुनकर प्रभुके चरणोंमें अनुराग उत्पन्न होता है, जिससे (पंच) क्लेश मिट जाते हैं। हे प्रभो ! पूर्व कल्पमें कलियुग नामका एक पापोंका मूल युग हुआ जिसमें पुरुष और स्त्री सभी अधर्मरत और वेदके विरोधी थे॥ ९६॥

नोट—१ *'प्रथम जन्म'* से प्रथम मनुष्य-शरीर जो मिला, अथवा जिस जन्मसे रामभक्तिकी प्राप्तिका योग हुआ उसे जनाया। यह वह जन्म है जिसमें द्विजगुरुकी कृपासे शिवजीने आशीर्वाद दिये थे। *'प्रथम जन्म के कहौं'* का भाव कि सुध तो अनेक जन्मोंकी है जो शिवाशिषके पूर्व हुए पर जिस तनसे फिर मेरी बुद्धिमें शिवकृपासे मोह नहीं हुआ उसी प्रथम जन्मसे आगेतकका हाल कहूँगा। *'सुनि रति उपजै'*, *'कलेस मिटहिं'* पदोंमें वर्तमानकालिक क्रिया देकर जनाया कि आगे भी जो सुनेंगे उनको भी प्रेम होगा और उनके भी क्लेश मिटेंगे।

२ *'पूरब कल्प एक'* इति। *'पूरब'* का भाव कि तबसे आजतक बहुत कल्प बीत गये। आगे भुशुण्डिजी

कहेंगे कि मुझे इस आश्रममें आये *'बीते कलप सात अरु बीसा'* इससे जनाया कि २७ कल्प तो अवश्य ही उस कल्पको तथा उस जन्मको हो चुके। *'एक'* का दूसरा भाव कि ऐसा कठिन कलिकाल किसी कल्पमें न हुआ।

रा० शं० श०—*'प्रथम जन्म के चरित'* —सज्जन लोग अपने चरित्र स्वयं नहीं कहते, परंतु यहाँ जो कहते हैं उसका कारण भी बताते हैं कि उससे प्रभुके पदमें रति होगी और क्लेश मिटेंगे।

तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भएउँ सूद्रतनु पाई॥ १॥
सिवसेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी॥ २॥
धन मद मत्त परम बाचाला। उग्र बुद्धि उर दंभ बिसाला॥ ३॥

अर्थ—उस कलियुगमें कोसलपुरमें जाकर मैंने शूद्रतन पाकर जन्म लिया॥ १॥ मन, कर्म और वचनसे मैं शिवजीका सेवक, अन्य देवताओंका निन्दक और अभिमानी था॥ २॥ धनके मदसे परम मतवाला, परम वाचाल, भयंकर तीक्ष्ण बुद्धिवाला था और मेरे हृदयमें बड़ा भारी दम्भ था॥ ३॥

नोट—१ *'सिवसेवक मन क्रम अरु बानी।'''''''* इति। (क) ☞ *'मन क्रम अरु बानी'* दीपदेहली है। मन-कर्म-वचनसे शिवसेवक था और तीनोंसे ही दूसरे देवताओंकी निन्दामें तत्पर था, *'निंदक'* कहकर *'अभिमानी'* कहनेका भाव कि शिवसेवकको तो विष्णु-नारायण-रामकी निन्दा न करनी चाहिये, क्योंकि शिव-सेवाका तो फल ही है *'अबिरल भक्ति राम पद होई'* अतः कहते हैं कि मुझे शिवसेवक होनेका अभिमान था, इससे अन्यकी निंदा करता था। [पुनः, अभिमानीका भाव कि जो कोई मुझे निन्दा करनेपर समझाकर निवारण करना चाहता उसका मैं तिरस्कार करता था। (पं०)] (ख)—*'आन देव'* में अन्य सभी आ गये पर भुशुण्डिजीका तात्पर्य हरिसे है जैसा आगे उनके वचनोंसे स्पष्ट हो जायगा।

वि० त्रि०—उपासनाशास्त्रका नियम है 'अपने इष्टदेवको अङ्गी और अन्य देवोंको अङ्ग मानना। अतः शिवसेवक मन, वाचा या कर्मणा होना तो बहुत अच्छी बात थी, पर अन्य देवोंको अङ्ग मानकर उनकी पूजा उसने नहीं की। उनको शिवजीका सेवक भी नहीं माना। यदि मानता तो निन्दा कैसे करता। सो वह दूसरे देवताओंकी निन्दा करता था, उनसे बढ़कर अपनेको मानता था, क्योंकि अभिमानी था।

नोट—२ *'धन मद मत्त'*—*'श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि'* दोहा ७० देखो। (क) *'परम बाचाला'* से जनाया कि बातोंमें, वाद-विवादमें मुझसे कोई जीत न सकता था। अलम्का अर्थ है समर्थ वा निपुण। पुनः, वाचालका प्रयोग, 'बकवादी' अर्थमें भी होता है, इस तरहका भाव यह हुआ कि बड़ा बकवादी था, अपने आगे दूसरेको बात ही न करने देता था, दूसरेकी सुनना तो दूर ही रहा।' (ख) *'धन मद मत्त'* कहकर वाचाल कथनका भाव कि अपना ऐश्वर्य ही बका करता था। इससे जनाया कि मैं खल था, यथा—*'जस थोरेहु धन खल इतराई।'* (कि० १४ । ५) देखिये। (ग) *'उग्र बुद्धि'* में दो भाव हैं—एक तो यह कि मैं भयंकर प्रतिवादी था, कोई मेरे आगे अपनी बात समर्थन करनेमें ठहर न सकता था, दूसरे क्रूरबुद्धि था। अर्थात् यह बुद्धि कुटिल कार्यमें, अन्यायको न्याय सिद्ध करनेमें लगी रहती थी।

रा० प्र०—१ धनका गर्व, उपासनाहीसे परम वाचाल, बादमें उग्रबुद्धि और *'दंभ बिसाला'* कि किसीके दबाये न दबता था। २—कोई कहते हैं कि अवधमें जन्म होनेसे श्रीरामजीसे सम्बन्ध बँधा, उनकी प्राप्तिका योग उत्पन्न हुआ, 'शिव-सेवक' यह राम-भक्तिका बीज है, आनदेवनिन्दकका फल कालान्तरमें अपने उपासनाका अभिमान है।

करु०—*'उर दंभ'* अर्थात् शास्त्रके पदार्थ सबको दिखाता रहूँ पर स्वयं कर्तव्य प्रतिकूल करूँ। देखावमात्र वेषवार्तासे सन्मार्गी था।

जदपि रहेउँ रघुपति रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी॥ ४॥
अब जाना मइँ अवधप्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा॥ ५॥

कवनेहु जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई॥ ६॥
अवधप्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहि रामु धनुपानी॥ ७॥

अर्थ—यद्यपि मैं श्रीरघुनाथजीकी राजधानीमें रहा, तो भी मैंने उस समय उसका कुछ माहात्म्य न जाना॥ ४॥ अब मैंने अवधका प्रभाव जाना। शास्त्र, वेद और पुराणोंने ऐसा कहा है कि किसी भी जन्ममें कोई भी अवधवास करता है, वह अवश्य रामपरायण अर्थात् रामानुरागी हो जायगा। ५-६॥ जीव तभी अवध-प्रभाव जानता है जब धनुष-बाण धारण किये हुए श्रीरामजी उसके हृदयमें निवास करते हैं॥ ७॥

खर्रा—महिमा न जाननेसे अयोध्यावासका यथार्थ फल न हुआ।

नोट—१ *'तदपि न कछु महिमा तब जानी'* भाव कि श्रीअवधपुरीमें रहनेसे वहाँकी महिमा जाननी चाहिये थी पर मैं अभिमानवश मूढ़ बना रह गया। महिमा न जाननेका कारण आगे बताते हैं।

रा० प्र०—१ (क) 'वेद शास्त्र' रुद्रयामल आदि, पुराण स्कन्द-पद्मादि। (ख) *'कवनेहु जन्म'* से जनाया कि चाहे कीट, पतंग, पशु आदि किसी भी योनिमें जन्म हुआ हो यदि यहाँ वास होगा तो वह रामपरायण हो जायगा। (ग) *'जब उर बसहिं रामु धनुपानी'* इति। भाव कि जब श्रीरामजी धनुष-बाण लेकर हृदयकी रक्षा करें, अपना धाम यहाँ बनावें और अपना घर दिखावें तब तो जीव देखै—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई', 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* [भाव यह है कि यह धाम श्रीरामजीकी राजधानी है। वे इसके देवता और स्वामी हैं। उनकी भक्तिसे प्रभाव जाना जाता। उनसे विरोध करके कोई कैसे जान सकता है। करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि धनमद और दम्भके कारण न जाना।]

रा० शं० श०—*'अब जाना'* का भाव कि सत्ताईस कल्पोंके अनुभवसे फिर भी श्रीरामकृपासे ही जाना।

नोट—*'अब जाना मैं अवधप्रभावा'* और आगे कहते हैं कि *'अवधप्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं रामु धनुपानी'* इससे जनाया कि अब मेरे हृदयमें वे धनुषधारी राम बसते हैं (ख) क्या प्रभाव जाना और कैसे जाना सो आगे कहते हैं कि *'निगमागम पुरान'* ऐसा कहते हैं कि *'कवनेहु……'* (ग) वेदादि दो सिद्धान्त कहते हैं। एक तो यह कि किसी योनिमें जन्म होनेपर यदि वहाँ वास हो और वह मरे कहीं और तो दूसरे जन्ममें वह रामभक्तिपरायण अवश्य होगा, इस जन्ममें चाहे वह श्रीरामजीका भजन न करता रहा हो। दूसरे, अवधप्रभाव वास होनेपर जानना दुर्लभ है, प्रभाव तो तभी जानेगा जब हृदयमें श्रीरामजी निवास करें। हृदयमें रामधाम बननेसे अवधका प्रभाव झलकेगा।* (घ) ये दोनों बातें भुशुण्डीजीने साक्षात्कार की। अवधवास हुआ था अतः दूसरे जन्ममें रामभक्ति हुई, यथा—*'रघुपति पुरी जन्म तव भयऊ।'''पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥'* (१०९। ९-१०) जब लोमशजीने श्रीरामजीका ध्यान बताया तबसे हृदयमें वे वास करते हैं, *'पुनि उर राखि राम सिसुरूपा। निज आश्रम आवौं खग भूपा॥'* (११४। १४) अतः कहा कि *'अब जाना'* पुनः, (ङ)—इससे जनाया कि उससे पूर्व मैं रामोपासक न था।

३—*'रामु धनुपानी'* कहकर जनाया कि चतुर्भुज , षड्भुज, अष्टभुज इत्यादि तथा श्रीकृष्णादि द्विभुजरूपोंके वाससे भी अवधका प्रभाव नहीं जाना जा सकता। [पं०—*'उर बसहि'* अर्थात् उनका हृदयमें ध्यान आवे]

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥ ८॥

दो०—कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त† भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

* अयोध्या च परंब्रह्म सरयूः सगुणः पुमान्। तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥ यस्याः प्रभावमतुलं वेदा देवः शिवो ह्यहम्। नहि वक्तुं समर्थाः स्मो विष्णुश्च सगुणः पुमान्। इति अयोध्यामाहात्म्ये।—(वै०)

† गुप्त—(का०)

भए लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान * ग्याननिधि कहौं कछुक कलि धर्म॥ ९७॥

शब्दार्थ—कल्पना=वह शक्ति जो अन्त:करणमें ऐसी वस्तुओंके स्वरूप उपस्थित करती है जो उस समय इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित नहीं होती। कल्पित=कल्पनाद्वारा रचा हुआ। मनमाना मनगढ़ंत। झूठे।

अर्थ—हे गरुड़! वह कलिकाल बड़ा कठिन था† । सब स्त्री-पुरुष उसमें निमग्न थे॥ ८॥ कलिके पापोंने सब धर्मोंको ग्रास कर लिया, सद्‌ग्रन्थ लुप्त हो गये। पाखण्डियोंने अपनी बुद्धिसे गढ़-गढ़कर बहुतसे मार्ग प्रकट किये। सब लोग मोहवश हो गये। शुभकर्मोंको लोभने ग्रस लिया। (जो कहीं कोई शुभ कर्म करता है वह धनादिके लोभसे।) हे ज्ञाननिधान भगवद्वाहनजी ! सुनिये, मैं कलिके कुछ धर्म कहता हूँ॥ ९७॥

नोट—१ *'सो कलिकाल कठिन'* का भाव कि—(क) सभी कलिकालोंमें मनुष्य पापसे रत होते हैं, पर उस कलिकालमें जैसे पापपरायण थे वैसे किसी कलिकालमें नहीं हुए। (ख) वह कठिन था, अन्य वैसे कठिन न थे, साधारण जैसे होते हैं वैसे ही थे। (ग) *'सो'* अर्थात् जिसका पूर्व वर्णन कर रहा था और जिसमें मेरा प्रथम जन्म हुआ था दोहा ९६ *'पूरब कल्प एक प्रभु······'* में कलियुगका वर्णन प्रारम्भ कर बीचमें अपने जन्मादि कहने लगे थे, अब फिर वहींसे वर्णन उठाते हैं; अत: कहा कि *'सो कलिकाल'* (घ) वहाँ कहा था कि *'नर अरु नारि अधर्मरत······'* और यहाँ *'पाप परायन सब नर नारी'* कहा। इनके बीचमें अपना जन्म कहकर जनाया कि मेरा जीवन भी अधर्मरत और पापपरायण था। वहाँके 'अधर्मरत' का अर्थ 'पापपरायण' स्पष्ट कर दिया।

२ (क) *'कलिमल ग्रसे धर्म सब'* इति। धर्मसे पाप दूर होते हैं पर यहाँ कलिके काम, क्रोध, लोभादि पापोंने ही सब धर्मोंको खा लिया—*'करहि क्रोध जिमि धर्महि दूरी।'* (ख) धर्म न रह गया अत: धर्मप्रवर्त्तक ग्रन्थ भी लुप्त हो गये, सुने भर जाते हैं, देखनेमें नहीं आते। (ग) *'निज मति कल्पि करि प्रगट किए······'* का भाव कि ये कपोलकल्पित हैं, जो दम्भी हैं उनके गढ़े हैं। *'पंथ'* (=मार्ग) का भाव कि लोग इनपर चलें।

☞ आजकल अभीसे देखनेमें आता है कि अनेक नये मतवालोंने अपने समाजके विद्वानोंको प्राचीन महर्षियोंका नाम दिया है और उनसे जो पुस्तकें लिखाते हैं उनको उन महर्षियोंके ग्रन्थोंका नाम देते हैं, जिसमें आगे लोगोंको भ्रममें डाल सकें, यह न जाना जा सके कि वस्तुत: कौन सत्य है। इसी तरह संतवाणियाँ सुनने-देखनेमें आयेंगी।

मिलान कीजिये—*'आगम बेद पुरान बखानत मारग कोटिक जाहिं न जाने। जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने॥ धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग बिराग लै जीव पराने। को करि सोच मरै तुलसी हम जानकीनाथके हाथ बिकाने॥'* (७। १०५) *'बेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है। काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोइ छली है॥'* (क० ७। ८५)

'लुप्त भए सदग्रंथ' लिखकर *'निज मति कल्पि······'* कहनेका भाव कि—(क) गुप्त होनेके कारण ये ही हैं, यथा—*'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ। जिमि पाषंड बिवाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ॥'* (४। १४) अर्थात् पाखंडियोंने जो नये-नये ग्रन्थ निर्माण कर दिये उनसे इनका पता ही नहीं चलता। अभी देख लीजिये वाल्मीकीय, तुलसीरामचरितमानस, इत्यादिमें कितने क्षेपक भर गये हैं, यहाँतक कि निर्णयसागर, व्यंकटेश्वर आदि प्रामाणिक प्रेसोंने ७ के ८ काण्ड कर दिये। पुन: इससे यह भी भाव निकलता है कि पाखण्डीलोग अपने नये-नये मत चलाकर मनमाने ढंगसे वेदोंका तात्पर्य निकालते थे। इस तरह 'वेदा: पाखण्डदूषिता:' (भा० १२। ३। ३२) का भाव भी आ जाता है। (ख) सद्‌ग्रन्थोंके रहते उनकी न चलती थी, जब वे लुप्त हो गये तब इनके कल्पित पन्थ प्रकट

* सुज्ञाननिधि—(का०)। † बि० टी० अर्थ करती है कि—'यह बात कलियुगमें कठिन है क्योंकि'।

हुए। (ग) सद्ग्रन्थ सूर्य, शशि-समान प्रकाश करनेवाले थे, उनके न रहनेपर ये जहाँ-तहाँ चमकते देख पड़ते हैं, पर हृदयका अन्धकार दूर करनेको असमर्थ हैं। ये जुगनूवत् हैं, यथा—*'निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥'*—विशेष कि० १४, १५ (६) में देखिये। *'लोभ ग्रसे सुभ कर्म'*, अर्थात् हृदयमें लोभ है, धन अधिक मिलता तो करते, नहीं मिलता इससे नहीं करते। न करनेसे शुभ कर्मोंका लोप हो गया।

४ *'हरिजान ज्ञाननिधि'* का भाव कि आप तो ये सब जानते ही हैं, दूसरोंके उपदेशार्थ कुछ कहे देता हूँ।

रा० प्र०—१ *'सुनु' 'कहौं कछुक'* का भाव कि अधिक तुम सुन न सकोगे इससे कुछ ही कहूँगा। *'ज्ञाननिधि'* का भाव कि ज्ञानियोंको सुननेसे बाधा नहीं होगी, कोई विकार सुनकर न उत्पन्न होंगे; इसीलिये तुमको सुनाता हूँ।

पं०—*'हरिजान'* का भाव कि तुम जानते हो कि सब कुछ भगवान्‌की इच्छामें है। ज्ञानवान्‌का भाव कि अज्ञान तुम्हारा प्रतिपक्षी है, इसकी सेनाका विश्वास तुमको भी न चाहिये।

कलिधर्म

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी*॥ १॥
द्विज श्रुति बेचक† भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥ २॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥ ३॥
मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ता कहुँ संत कहै सब कोई॥ ४॥

अर्थ—चारों वर्णाश्रमोंके धर्म नहीं रह जाते, सब स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं॥ १॥ ब्राह्मण वेदोंके बेचनेवाले और राजा प्रजाको खा जानेवाले होते हैं। कोई भी वेदकी आज्ञा नहीं मानते॥ २॥ जिसे जो भाता है वही उसका (वेद) मार्ग है। जो डींग मारे वही पण्डित॥ ३॥ जिनके कार्योंका आरम्भ ही (मूल) मिथ्या है जो ऐसे कामों एवं दम्भमें अनुरक्त हैं उसीको सब सन्त कहते हैं॥ ४॥

नोट—१ *'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी'* का भाव कि चारों वर्ण और चारों आश्रमके पृथक्-पृथक् धर्म हैं, पर चारों वर्णोंमें कोई अपने वर्णधर्मपर नहीं चलता, ब्राह्मण शूद्रोंके, शूद्र ब्राह्मणोंके कर्म करने लगे, शूद्र द्विज वर्णोंकी कन्याएँ व्याहने लगे, इत्यादि। इसी तरह आश्रमोंका हाल है, ब्रह्मचर्याश्रमका धर्म पूरा न कर पाये और चौथा आश्रम संन्यास ग्रहण कर लिया, इत्यादि। केवल दण्ड-कमण्डलु, मृगचर्मादि धारण इत्यादि ऊपरके चिह्नोंसे संन्यासी, ब्रह्मचारी आदि कहलाते हैं। पुनः, भाव कि वर्णाश्रम भेद ही न रह गया सब वर्णसंकर हो गये। ब्रह्मचारी, संन्यासी सभी आश्रमवाले गृहस्थ हो गये, ब्राह्मणादि वर्ण शूद्रतुल्य हो गये।

वि० त्रि०—कलियुगमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति वर्णाश्रम-धर्मानुकूल नहीं रहती और न वह ऋक्, साम, यजुरूप त्रयीधर्मका सम्पादन करनेवाली होती है, यथा—'**वर्णाश्रमाचारवती प्रवृत्तिर्न कलौ नृणाम्। न सामऋग्यजुर्धर्मविनिष्पादनहैतुकी॥**' (वि० पु० ६ । १ । १०) अतः इस युगमें वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह जाता और सब लोग वेदोंका विरोध करने लग जाते हैं। यह युगधर्म है। इस युगमें ऐसा ही होता है। इस स्वाभाविकी प्रवृत्तिके रोकने तथा शास्त्रीय प्रवृत्ति बनाये रखनेवाले पुरुष धन्य हैं।

२ (क) *'श्रुति बेचक'* इति। वेदका बेचना यह कि लोभवश अनधिकारीको वेद पढ़ाते, पुस्तक

---

* 'ब्रत नर नारी'—(क)=सबका यह व्रत है।

† 'बंचक' (करु०, पं०)। बंचकता यह कि स्वयं उनपर चलते नहीं पर दूसरोंका धन हरण करनेके लिये उनको सुनाते हैं-(पं०)। अथवा, अर्थ स्वयं जानते हैं पर दूसरोंको प्रसन्न करनेको तोड़-मरोड़कर और अर्थ करके उनको समझा देते हैं।

लिखकर बेचते, अनुष्ठानादि करके धन लेते, ऋषियोंकी वेद-पठन-पाठनकी प्राचीन परम्परागत शैलीको छोड़ लोभवश अन्यथा करते हैं। स्वार्थवश वेदके शब्दोंके अर्थ-अनर्थ करते हैं। (ख) ***'द्विज श्रुति बेचक'*** कहकर ***'भूप प्रजासन'*** कहनेका भाव कि ब्राह्मण हरिरूप हैं, यथा—***'प्रभुके बचन बेद बुध संमत मम मूरति महिदेव मई हैं।'*** (वि० १३९) वे अपने धर्ममें निष्ठ रहते थे तो राजा भी उनसे डरते रहते थे, वे राजाका शासन करते रहते थे, पर उनकी मति लोभवश हो गयी। यथा—***'तिन्ह की मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लील लई है।'*** (वि० १३९) अतः राजाको किसीका डर नहीं, विप्र उनकी-सी कहते हैं। राजा प्रजाको लूटनेकी नई-नई कुचालें निकालते हैं—***'राजसमाज कुसाज कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।'*** (वि० १३९) विप्र भ्रष्ट अतः राजा भ्रष्ट।

३ ***'भूप प्रजासन'*** इति। राजाका धर्म है कि प्रजासे बहुत थोड़ा कर ले और उसे उनकी रक्षामें ही लगा दे; पर कलियुगमें राजालोग प्रजाको चूस ही लेते हैं, प्रजाका सर्वस्व ले लेते हैं और फिर भी प्राण भी नहीं छोड़ते, यही प्रजाको खा लेना है। (पं०—जैसे बकरी पालनेवाला उसके दूधसे तृप्ति न देख उसीको खा लेता है।) भाव यह कि प्रजा दे नहीं सकती तब भी उसको अनेक कष्ट देकर उसका खून पिये लेते हैं। ☞ वि० पु० तथा भागवतमें जो कहा है कि राजा लोक प्रजाकी रक्षा न करेंगे। वरन् कर लेनेके बहाने उनका सब धन छीनेंगे। उनकी वृत्ति चोरोंकी-सी प्रजाका धन और स्त्रीके छीननेमें होगी। यथा—**'अरक्षितारो हर्त्तारश्शुल्कव्याजेन पार्थिवाः। हारिणो जनवित्तानां सम्प्राप्ते तु कलौ युगे॥'** (वि० पु० ६ । १ । ३४) **'प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः॥ आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।'** (भा० १२। २ । ८। ९) यह सब भाव ***'भूप प्रजासन'*** में हैं ही और इससे भी अधिक भाव भरे हैं। एक मात्र जिसमें उनका एवं उनके परिवारका स्वार्थ सधे वैसे ही कानून बनाकर प्रजाको वैदिक-धार्मिक मार्गसे च्युत करेंगे। घोर कलिकाल आये बिना आज ही यह आचरण शासकोंमें देखा जा रहा है। (भा० १२। ३ । ३२)में 'प्रजासन' का 'ठीक ' पर्याय ही **'राजानश्च प्रजाभक्षाः'** आया है। भा० १२ । १ में कलियुगमें कैसे राजा होंगे इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि **'असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः। प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥'** (४२) (अर्थात्) परम्परागत संस्काररहित, अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले, रजोगुण और तमोगुणसे भरे हुए लोग राजा होंगे। उन्हें राजा कहना तो अन्याय है, वे राजाओंका रूप धारण करनेवाले म्लेच्छ ही होंगे। वे लूट-खसोटकर अपनी प्रजाका खून ही नहीं चूसेंगे, बल्कि उन्हें जीता चबा जायँगे। राजाका प्रजापालन कैसा चाहिये, कर कैसे लेना और कैसे उसके हितमें लगाना चाहिये, यह दोहावली ५०७—५११ में खूब कहा है—

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल। प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥
बरसत हरषत लोक सब करषत लखै न कोइ। तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होइ॥
सुधा सुनाज कुनाज पल आम असन सम जानि। सुप्रभु प्रजाहित लेहिं कर सामादिक अनुमानि॥
पाके पकये विटप दल उत्तम माध्यम नीच। फल नर लहै नरेस त्यों कर बिचारि मन बीच॥
रीझि खीझि गुरु देत सिख सखा सुसाहिब साधु। तोरि खाय फल होइ भल तरु काटे अपराधु॥

४ ***'कोउ नहिं मान......'***।—ब्राह्मण, क्षत्रिय दो वर्ण जब अपने धर्मसे च्युत हुए तब अन्य सब अपने-अपने मतानुसार चला ही चाहें। विप्र और भूप श्रुतिपर नहीं चलते तब प्रजा क्यों चलने लगी। श्रेष्ठ लोगोंके सदसदाचरणका प्रभाव सामान्य लोगोंपर पड़ता ही है। यथा—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥'** (गीता ३ । २१) वेदज्ञ ब्राह्मण और नीतिज्ञ राजा श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं अन्य पुरुष भी वैसा ही और उसी प्रमाणमें करता है, संसार उन्हींके पीछे चलता है।

भा० १२। १ में भी कहा है कि ***'भूप प्रजासन'*** होनेसे प्रजा भी उन्हींके समान शील, आचार और भाव रखकर आपसमें एक-दूसरेको विताड़ित करते हुए नष्ट हो जायगी। यथा—**'तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः। अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः॥'** (४३)

५ *'पंडित सोइ जो गाल बजावा'*, यथा—'**पाण्डित्ये चापलं वचः**' (भा० १२ । २। ४) अर्थात् पाण्डित्यके विषयमें वचनकी चपलता ही मुख्य कारण होगी। अर्थात् जो बहुत मिथ्या गप हाँके वही पण्डित समझा जाता है।

करु०—मिथ्यारम्भ अर्थात् मायाके हेतु बल और स्वाङ्ग करते हैं। दम्भ यह कि लोकको दिखानेके लिये अनेक मुद्राएँ साधते हैं।

पं०—मिथ्यारम्भका भाव कि यज्ञ, व्रत आदिमें श्रद्धा तो है नहीं पर झूठ ही उनका आरम्भ कर बैठता है।

रा० प्र०—*'मिथ्यारम्भ'* का भाव कि उनके सब काम मायावी, सेवापूजा सब ठगारी तथा *'ठग ठाकुरसे देखि परे।'* दम्भरत अर्थात् बाहरी ढोंग जिनका बहुत है। *'सब कोई'*=जो उनके फंदेमें फँसे हैं वह।

नोट—६ *'मिथ्यारम्भ······'* इति। ☞ सारांश यह कि कोई धर्मका कार्य, जैसे कि लाइब्रेरी, विद्यालय, पाठशाला, गरीबोंका अस्पताल, धर्मशाला, मंदिर इत्यादि छेड़ देते हैं पर वस्तुतः उसके नामपर लोगोंसे धन ठगनेका मनमें अभिप्राय रहता है, उस कार्यको पूरा करनेका नहीं; क्योंकि उनमें उनकी श्रद्धा नहीं है।

सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥५॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना॥६॥
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलियुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥७॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥८॥

शब्दार्थ—**आचारी**=शुद्ध आचरण या चालढालवाला; चरित्रवान्, आचार-विचार वा पवित्रतासे रहनेवाला, **मसखरी**=दिल्लगी, हँसी।

अर्थ—जो पराया धन हरण करे वही सयाना, जो दम्भ करे वही बड़ा आचारी, जो झूठ बोले और उसे हँसी-दिल्लगी समझे कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है॥ ५-६॥ जो शुद्धाचरण, सदाचार वा आचार-विचाररहित हैं और वेदमार्गका त्याग किये हैं वही कलियुगमें ज्ञानी और वैरागी कहलाते हैं॥ ७॥ जिसके बड़े-बड़े नाखून और बड़ी-बड़ी जटाएँ हों कलिकालमें वही तपस्वी नामसे प्रसिद्ध है॥ ८॥

वै०—*'झूठ मसखरी जाना।'* अर्थात् एक बात बनानेके लिये अनेकों झूठी बातें कहते हैं। जो मसखरी अर्थात् भाड़ोंकी-सी नकल करना जानते हैं अर्थात् भली बातमें भी हासवर्धक झूठी तर्कणा कर लोगोंको खुश करते हैं, वे ही गुणवान् कहे जाते हैं। भाव कि सत्य, शील, दया आदिको कोई पूछता ही नहीं, मसखरीके सभी ग्राहक हैं। २—*'सोइ तापस'*=तपस्वीके कर्तव्यसे प्रयोजन नहीं वेषमात्रसे तपस्वी कहलाते हैं।

नोट—भा० १२ के '**अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।**' (२। ५) '**वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः॥**' (२। २) के भाव चौ० (४-५) में हैं। अर्थात् 'कलियुगमें निर्धनता ही असाधुत्वका कारण और सधनता ही साधुत्वका कारण होगी अर्थात् निर्धन बेचारे असाधु और धनवान् साधु और महापुरुष कहे जायँगे।' 'कलियुगमें धन ही मनुष्योंके (जन्म) उच्चकुलमें उत्पत्ति, सदाचार-गुणोदयका कारण होगा। अर्थात् चाहे जैसे न्याय-अन्यायसे उपार्जित धनवाले ही जन कलियुगमें सदाचारी, गुणी, कुलीन-महोदय कहे जायँगे।'

रा० प्र०—*'जो कह झूठ मसखरी जाना'*=झूठ बातें और मसखरी करना जाने वा झूठ कहे और मसखरी करना जाने।

पं०—*श्रुतिपथ त्यागी।* —भाव कि चाहिये तो था कि वेदके अनुसार विषयरसका त्याग करता सो न करके प्रत्युत कर्म, उपासना, ज्ञान जो वेदमार्ग है उसीको त्याग बैठे। (श्रुतिपथ—कर्म-उपासना-ज्ञान। काण्डत्रय)।

नोट—२ *'सोइ ज्ञानी सो बिरागी'* का भाव कि ज्ञानीका लक्षण ज्ञानवन्त होना, संसारके विषयोंसे अलिप्त होना, ब्रह्मनिष्ठ होना इत्यादि जो वेदोंमें है वह इनमें नहीं है। सदाचाररहित होना, दुराचार-सदाचार विचाररहित होना यही *'ज्ञानी'* का लक्षण कलिमें माना जाने लगा। विषयोंका त्याग जो वैरागीका लक्षण श्रुतियोंमें है वह इनमें नहीं है। वेदमार्गका ही त्याग कर देना यह लक्षण जिसमें हो वह वैरागी माना जाता है। भाव कि वे कहते हैं कि भगवान् कहते हैं कि '**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**' (गीता २ । ४५) अर्थात् ये त्रिगुणात्मक

हैं, वैरागीको त्रिगुणका भी त्याग करना उचित है। यथा—'*कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥*' (आ० १५। ८) अतः वेदमार्गका भी त्याग करनेसे ही वैरागी हो सकता है।

३ '*सोइ तापस*' का भाव कि वेषमात्र तपस्वीका रह गया, तपस्याका नाम भी नहीं। '*प्रसिद्ध*' का भाव कि जो सच्चे तपस्वी हैं उनको कोई जानता ही नहीं, न उन्हें कोई तपस्वी कहे।

दो०—असुभ बेष भूषन धरें भक्षाभक्ष जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
सो०—जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥ ९८॥

शब्दार्थ—चार=आचरण, व्यवहार, चाल। दूत, नौकर—'*चार चले तिरहूत।*'

अर्थ—जो अमंगल वेष और अमंगल आभूषण धारण करें, जो भक्ष्याभक्ष्य (अर्थात् जो खानेके योग्य है एवं जो खानेयोग्य नहीं वह सब जैसे मद्यमांस, मल, मूत्रादि) खाते हैं वे ही योगी और वे ही सिद्ध पुरुष हैं और उन्हींकी कलियुगमें मान्यप्रतिष्ठा है; वे ही पूजनीय माने जाते हैं। जो '*अपकारी चार*' हैं* उनका बड़ा गौरव (महत्त्व, गुरुता, बड़प्पन) है और वे ही प्रतिष्ठायोग्य माने जाते हैं। जो मन, कर्म और वचनसे लपाड़िये (झूठे और डींग मारनेवाले तथा गपोड़िये) हैं वे ही प्रतिष्ठायोग्य माने जाते हैं। जो मन कर्म और वचनसे लपाड़िये (झूठे और डींग मारनेवाले तथा गपोड़िये) हैं वे ही कलिकालमें वक्ता कहे जाते हैं॥ ९८॥

नोट—१ '*असुभ बेष""""खाहिं*' से अघोरपंथी जनाया। मुंडमाला, हड्डी आदिक शरीरपर धारण किये, चिताकी भस्म रमाये, इत्यादि अशुभ वेष है, यथा—'*असुभ बेष कृत सिव सुखद*' (८८), '*मन क्रम बचन लबार ते बक्ता।*' जैसे कि आज आर्यसमाजी, कल सनातनधर्मी, परसों राधास्वामी इत्यादि। अपना तो किसीमें विश्वास नहीं, बुद्धिविलाससे जिसमें ही धनप्राप्तिकी गुंजाइश देखी उसीमें पहुँच गये, व्याख्यान देने लगे, अनेक संस्कृतके कपोलकल्पित ग्रन्थ रच दिये; अथवा उनके मतके साधनके लिये प्राचीन ग्रन्थोंमें श्लोक गढ़कर रख दिये। इस तरह मनसे झूठे, वचनके झूठे और कर्मके झूठे हैं। मनमें कुछ, वचनमें कुछ, कर्ममें कुछ। [वै०—'*तेइ बक्ता*' का भाव कि झूठे किस्से कहकर जो लोगोंको रिझाते हैं उनकी कथाकी लोग प्रशंसा करते हैं और सत्य कहनेवाले विद्वानोंकी कथा कोई पूछता ही नहीं।]

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥ १॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥ २॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी॥ ३॥

अर्थ—हे स्वामिन्! सब मनुष्य स्त्रियोंके पूरे वश होकर नटके बंदरकी तरह नाचते हैं। (अर्थात् जैसे नटके छड़ीके इशारे बंदर नाचता है वैसे ही स्त्रीके विवश होनेसे जैसा नाच वह नचाती है वैसा नाचना पड़ता है, जैसे वह पशु कुछ कर नहीं सकता वैसे ही ये पशुवत् लाचार हैं)॥ १॥ ब्राह्मणोंको शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं और जनेऊ डालकर (पहनकर) कुत्सित दान लेते हैं॥ २॥ सब मनुष्य काम, लोभ और क्रोधमें तत्पर और देवता, ब्राह्मण, वेद और संतके विरोधी होते हैं॥ ३॥

नोट—१ '*नारि बिबस—नट मर्कट की नाईं*' इति। भा० (३। ३१। ३४) में इसीको '**योषित्क्रीडामृगेषु॥**' (३४)

* १ रा० प्र०—'चार'=चुगुल। गुप्त मर्म खोलनेवाला, 'पिशुन'। २ रा० प्र०—'जिनकी बुद्धि असदहीमें चरै' (विचरै)। ३ पं०—अपकारीचार-यंत्रमंत्रादिसे लोगोंको अपकार करनेमें प्रवृत्त करनेवाले॥ ४ चार=नौकर, दूत। अर्थात् ऐसे नौकर जो अपने स्वामीका अपकार करनेमें तत्पर रहते हैं उनका मान्य गौरव है।—(गौड़जी)

कहा है। पुरुष स्त्रियोंकी क्रीड़ाके पशु हो रहे हैं। पर *'नट मर्कट'* में इससे विशेषता है। विशेष (४। ७। २४) *'नट मरकट इव सबहि नचावत'* में देखिये।

रा० प्र०—*'गोसाईं'* का भाव कि वे हैं तो इन्द्रियोंके स्वामी पर नाचते हैं कलंदरके बंदरके समान। आशय कि द्विपद होते हुए चतुष्पद पशुओंकी-सी चाल चलते हैं।

नोट—२ (क) ऊपर जो कहा था कि *'बरन धरम नहि'* वह यहाँ दिखाते हैं कि शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय-वैश्यको ज्ञानोपदेश करते हैं। उपदेश धर्म है द्विजका, सो धर्म शूद्रोंने ग्रहण कर लिया। (ख) *'मेलि जनेऊ'* का भाव कि कोई उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करता तो वे स्वयं ही गलेमें जनेऊ डालकर द्विज बन बैठते हैं। शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं, यह कहकर उसके साथ *'मेलि जनेऊ'* कहकर ध्वनित करते हैं कि यज्ञोपवीत ही विप्रत्वका चिह्न समझा जाने लगा, इसीसे आचाररहित शूद्रादि भी जनेऊ पहनकर अपनेको ब्राह्मण मानकर चारों वर्णोंको उपदेश देनेका साहस करने लगे और दान-दक्षिणा लेनेमें निस्संकोच हो गये। (ग) *कुदाना*=वह दान जो लेनेवालेके लिये बुरा माना जाता है, जैसे शय्यादान, गजदान इत्यादि। ब्राह्मण भी ऐसे दान नहीं लेते।

पं०—'**सूद्र द्विजन्ह**—' का भाव कि वे वैरागी, संन्यासी बनकर ब्राह्मणोंको शिष्य करते, ज्ञान सिखाते, यज्ञोपवीत पहिराते हैं और उनसे पूजा लेते हैं। कुदान इससे कहा कि अधिकारका विचार नहीं करते, अथवा उनकी क्रिया नहीं देखते कि उन्होंने धनका किस भाँति उपार्जन किया है।

नोट—३ *'सब नर काम लोभ रत क्रोधी।'* यथा—*'नारि बिबस नर सकल गोसाईं'* यह काम, *'लोभ ग्रसे सुभ कर्म'* यह लोभ, *'बरन धरम नहिं'* और *'श्रुति संत बिरोधी'* यह क्रोध। यह कहकर उनको नरकगामी जनाया क्योंकि ये *'नरक के पंथ'* माने गये हैं। सुं० दोहा ३८ देखिये।

गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥ ४॥
सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना॥ ५॥

अर्थ—सुन्दर गुणोंका धाम और सुन्दर रूपवाला पति छोड़कर अभागिनी स्त्रियाँ पराये पुरुषको भजती अर्थात् मन, वचन-कर्मसे उनमें रति करती हैं*॥ ४॥ सुहागिनी स्त्रियाँ तो आभूषणरहित होती हैं और विधवाओंके नित्य नये शृङ्गार होते हैं॥ ५॥

नोट—(क) *'गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी'* का भाव कि *'बृद्ध रोगबस' 'अंधबधिर'* ऐसे पतिका भी त्याग अनुचित है और यह तो सर्वगुणसंपन्न और सुन्दर है तब तो त्याग महा अयोग्य है। (ख) *'भजहिं'* से अत्यन्त अनुरक्त जनाया। भजनपदसे अपने इष्टदेवकी तरह उनकी सेवा जनायी। (ग) पतिके त्याग एवं परपुरुषमें अनुरक्त होनेसे तथा पतिसेवारूपी परमगति प्राप्ति-साधन छोड़ नरक-साधन करनेसे आगे फिर विधवा होगी यह भय नहीं है—*'बिधवा होइ पाइ तरुनाई'* इसीसे अभागी कहा। पतिके अपमानमात्रसे अनेक नरक भोगने पड़ते हैं और यह तो परपतिरत है एवं पतिका त्याग ही कर चुकी है तब इसके दुर्भाग्यकी क्या कही जाय? यथा—*'ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥', 'पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥'*—विशेष अर० ५ (१६-१९) देखो।

☞*'गुनमंदिर सुंदर पति'* का त्याग कहकर जनाया कि जिसको भजती है वह न तो गुणवान् ही है और न सुन्दर, फिर भी उससे प्रेम करती है। इससे दो बातें और जनायीं। एक तो यह कि पति धनी नहीं है, उसकी नित्यकी माँगको पूरी नहीं कर सकता; अतः वह धनीसे प्रेम करती है। दूसरे, उसमें काम प्रबल है, उसकी इच्छानुसार पति उसे रति नहीं दे सकता। अतः वह परपुरुषको भजती है जो दुश्चरित्र है, कामी है और परतियगामी है। गुणवान् सुन्दर पतिके त्यागसे जनाया कि कलियुगमें स्त्री और पुरुषकी उत्तमता आचार आदिसे नहीं वरं रति करनेमें कुशलतासे मानी जायगी।—'**स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिः।**' (भा० १२। २। ३) *'गुन मंदिर—'* में

* भर्ता यद्यपि नीतिशास्त्रनिपुणो विद्वान् कुलीनो युवा दाता कर्णसमः प्रसिद्धविभवः शृङ्गारदीक्षागुरुः। स्वप्राणाधिककल्पिता स्ववनिता स्नेहेन संलालिता तं कान्तं प्रविहाय सैव युवती जारं 'पतिं' वाञ्छति॥ सु० भा० स्त्रीस्वभाव।

वि० पु० के **'परित्यक्ष्यन्ति भर्त्तारं वित्तहीनं तथा स्त्रियः॥'** (६। १। १८) **'दुःशीला दुष्टशीलेषु कुर्वन्त्यस्सततं स्पृहाम्। असद्वृत्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः॥'** (३१) का भाव आ गया।

प० प० प्र०—*'मंदिर'* शब्दके प्रयोगके सम्बन्धमें कतिपय बार लिखा जा चुका है। 'गुणमंदिर' शब्द दो बार श्रीरामजीके लिये, एक बार लव-कुशके लिये (हरि प्रतिबिंब होनेसे) और एक बार रामभक्तोंके लिये (रामरूप होनेसे) प्रयुक्त हो चुका है। यथा *'गुनमंदिर सुखपुंजा॥'* (१। १८६। ४ छंद) *'अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर॥'* (६। ११४। छंद) *'दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर॥'* (२५। ४) *'ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज॥'* (३८) और यहाँ पतिके लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि स्त्रीके लिये उसका पति ही देवता है—*'नारि धरम पतिदेव न दूजा।'* *'मंदिर'* शब्दमात्रसे जना दिया कि जिस पतिको रामरूप जानकर उसकी सेवा करना चाहिये उसका ही वह त्याग करती है।

नोट—२ *'सौभागिनी बिभूषनहीना।'* भाव कि—(क) सुहागिनियोंको षोडश शृङ्गारयुक्त होना चाहिये और विधवाको शृङ्गारका त्याग करना चाहिये, पर कलिमें इसके विपरीत देख पड़ता है। पुनः, (ख) सुहागिनी गरीब हैं अतः उनके पास भूषण नहीं और विधवाएँ परपतिरतिसे धनी हैं एवं परपुरुषोंके रिझानेके लिये अनेक शृङ्गार करती हैं। इससे विधवाओंका व्यभिचारिणी होना कहा है। पुनः, (ग) पहले दो चरणोंमें स्त्रीका परपतिरत होना कहा, अब पुरुषोंका परस्त्रियोंमें प्रेम कहते हैं। विधवामें प्रेम हो गया अतः घरवालीका सब भूषण लेकर वे उसे दे देते हैं जिससे घरवाली सती नंगी रह गयी।

वै०—*'सौभागिनी बिभूषन हीना'* का भाव कि पतिको आनन्द देना तो कुछ समझती ही नहीं, अतः जो विशेष भूषण-वसन हैं उनको बाँधकर धर देती हैं, जब मेला देखने वा सम्बन्धी, मित्र, बन्धु आदिके घर निमन्त्रणमें गयीं तब परपुरुषोंको दिखानेके लिये उबटन-तेल-स्नानादि कर विशेष भूषण पहिन षोडशशृङ्गार करके जाती हैं। विधवाएँ सदा शृङ्गार किये रहती हैं, नहीं तो उन्हें कौन पूँछे।

पं०—'ऐसा होता था तो क्या उस समय गुरु जीवोंको उपदेश न किया करते थे। उसपर आगे कहते हैं कि गुरु थे पर *'गुर सिष बधिर अंध।'*

गुर सिष बधिर अंध कर* लेखा। एक न सुनै एक नहिं देखा॥ ६॥
हरै सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥ ७॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥ ८॥

अर्थ—गुरु और शिष्यका अन्धे और बहिरेका-सा लेखा (हिसाब) है। एक (शिष्य) सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं॥ ६॥ जो गुरु शिष्यका धन हरण करता है और उसका शोक नहीं हरण करता वह घोर नरकमें पड़ता है॥ ७॥ माता-पिता बालकोंको बुलाते हैं और जिससे पेट भरे वही धर्म सिखाते हैं॥ ८॥

खर्रा—*'गुर सिष......।'* अर्थात् दोनों ही ज्ञानभ्रष्ट हो गये।

करु०, वै०—*'अंध बधिर कर लेखा।'* गुरु और शिष्यका अन्धे-बहिरेका लेखा है, क्योंकि गुरु तो उपदेश देता है पर शिष्य सुनता ही नहीं और विषयोंमें आसक्त रहता है। जब गुरुका उपदेश ही नहीं सुनता तब परमार्थ-पथकी बात कौन सुने? गुरु अन्धे कि गुण-अवगुण देखे बिना ऐसे विषयीको शिष्य कर लेते हैं।—इसपर कहते हैं कि गुण-अवगुण कौन देखे? गुरु तो स्वार्थवश अन्धे हैं, उन्हें कान फूँक पूजा लेनेसे काम, यह भी उससे न कहेंगे कि पाँच माला मन्त्रजप अवश्य करना, इत्यादि। [रा० प्र०—भाव कि परमार्थ त्याग स्वार्थ साधक हो गये]

रा० शं०—१ गुरु बहिरे हैं, चेला जो प्रश्न करता है उसको नहीं सुनते क्योंकि गुरु अनुभवज्ञानहीन है और चेला तो नेत्रहीन है ही। वह गुरुशरणमें आया कि *'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के'* पर गुरुजी उसका संशयरूपी शोक नहीं हरते किंतु धन हरकर उसको शारीरिक शोक भी देते हैं।

* 'का'—भा० दा० ('र' पर हरताल देकर)। कर—(रा० गु० द्वि०)।

वै०—'*हरै सिष्य धन——*' इति। गुरुको चाहिये कि खूब विचारकर तब शिष्य करे फिर जबतक वह भजन ध्यानमें परिपक्व न हो जाय तबतक उसे पास रखे, जाने न दे। इस प्रकार उसका शोक हरना चाहिये। सो न करके पूजा लेनेके लिये अनेक उपदेश माहात्म्यके सुनाते हैं। इसपर भी दाल न गली तो उसे धर्म-संकटमें डालते हैं। यदि उसपर भी कार्य सिद्ध न हुआ तो कोपकर उसका अपमान करते हैं—इत्यादि रीतिसे धन हर लेते हैं। गुरु ही नरकको गये तब शिष्योंकी कौन कहे? '*बालकन्हि बोलावहिं*' का भाव कि वह सत्सङ्गमें हुआ तो समझते हैं कि वह बिगड़ जायगा तो उसको वहाँसे बुला लेते हैं और सिखाते हैं कि साधुसङ्गसे तू भी भिक्षुक हो जायगा।

प०—'*बालकन्हि——*' का भाव कि बाल्यावस्थामें विद्या पढ़ाना, सत्सङ्गमें प्रीति कराना तो दूर रहा उसी अवस्थासे उदरपोषणके कर्म सिखाते हैं।

रा० प्र०—'*बोलावहिं*' अर्थात् जबसे वह बोलने लगा तबसे उससे यही '*बोलावैं*' कि '*उदर भरै।*'

नोट—भाव यह है कि यदि इस अवस्थामें भक्ति वा परमार्थ बीज बो दिया जाय तो आगे वह अवश्य फलदायक हो-'*लरिकाई को पैरिबो तुलसी बिसरि न जाय*' सो न करके उदरपोषणवाली विद्या पढ़ाते हैं जिससे फिर वह जन्म-जन्मान्तरमें भी संसार न छोड़ सके और नरकमें पड़े—'*नरक प्रद उदर भरउ॥*' (वि० १४१)—विशेष ४७ (४-६) में देखिये।

'*सोइ धर्म*' का भाव कि वे इसीको मनुष्यका परम पुरुषार्थ, परम स्वार्थ बताते हैं; यही बालकोंका परम धर्म है ऐसा मानते और सिखाते हैं॥ भा० (१२। २। ६) के '**उदरं भरिता स्वार्थः।**' का भाव इन शब्दोंसे जना दिया।

वि० त्रि०—बच्चे अबोध होते हैं। (यथा '*बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना*'।) उनके ऊपर कहीं निवृत्तिमूलक धर्मका प्रभाव न डाल दें, इस भयसे बालकके न पूछनेपर भी, उसे बुलाकर शिक्षा देते हैं कि तत्त्वकी बात तुम्हें बतलाता हूँ। '**धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।**' सबका धारण भोजनसे होता है। अतः जिससे पेट भरे वही धर्म है। '**शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।**' धर्मकी अन्य प्रकारकी परिभाषा करनेवालेके फेरमें न पड़ना।

दो०—ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभबस करहि बिप्र गुर घात॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि॥ ९९॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञानके सिवा दूसरी बात ही नहीं कहते और लोभवश कौड़ीके लिये (अत्यन्त लघु लालचवश) विप्र और गुरुकी हत्या करते हैं। शूद्र द्विजोंसे कहते हैं 'क्या हम तुमसे कुछ घटे हुए (कम) हैं?' और डाँटकर आँख दिखाते हैं (अर्थात् घुरेरते-घुड़कते-धमकाते हैं) कि जो ब्रह्म जाने वही श्रेष्ठ विप्र है॥ ९९॥

वै०—'*ब्रह्मज्ञान बिनु——*' अर्थात् धर्म क्रियामें तो परिश्रम है और विधिनिषेधका विचार करना पड़े इससे कर्म और उपासनाकी तो बात भी नहीं करते और ज्ञानवार्ता सुगम है। अतः सब उसीको कहते हैं। यथा—'**वाक्योच्चार्य समुत्साहात् तत्कर्मकर्तुमक्षमाः। कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव।**'

रा० प्र०—१ '*कहहिं न दूसरि बात।*' भाव कि जैसे बनौवा आचरण-वेष है वैसी ही बोली भी है। वर्णाश्रमधर्म-भेद उठा दिये, खानपानके सम्बन्धमें स्वतन्त्र हो गये, इत्यादि करके कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी होनेपर फिर कौन रुकावट? और सिद्धान्तके वचन भी पढ़ सुनाते हैं, वेदोक्त कर्म उपासना ज्ञानपर अनेक कुतर्क कर लोगोंको बहकाते हैं।

'कौड़ी लागि' का भाव कि इतनी छोटी हानि भी नहीं सह सकते, इसके लिये 'महापातक' करते हैं। विप्र-गुरु अवध्य हैं सो उनका वध करते हैं।

वै०—*'करहिं बिप्र गुर घात'* कहकर जनाया कि उनका ज्ञान राक्षसी वा दुष्ट ज्ञान है; जैसे रावणने पुत्रोंको मरवाकर स्त्रियोंको और पुत्रोंको मारकर कंसने देवकी-वसुदेवको ज्ञान सिखाया—*'नश्वर रूप जगत सब देखहु हृदय बिचारि।'* (६। ७६)

पां०—*'कौड़ी लागि……।'* मुँहसे ब्रह्मज्ञान छाँटते हैं (और लोभ ऐसा है कि एक) कौड़ी गुरु या ब्राह्मणके पेटमें भी हो तो उसे निकाल लें।

नोट—मिलान कीजिये—'**कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः। त्यक्ष्यन्ति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यन्ति स्वकानपि॥**' (भा० १२। ३। ४१) अर्थात् कलियुगमें बीस संख्यामात्र कौड़ियोंके लिये विरोध करके लोग प्रेमरहित बन माता-पिता, भाई, गुरु आदि स्वजनोंको मार डालेंगे और अपने प्रिय प्राण भी खो देंगे।

वै०—*'आँखि देखावहिं डाटि।'* भाव कि जब ब्राह्मण अपने कर्ममें निष्ठ रहनेसे शापादि देनेमें समर्थ होते थे तब सब वर्ण उनसे डरते थे। कलिके ब्राह्मण, नित्यक्रिया तो दूर रही, गायत्रीतक नहीं जानते, यज्ञोपवीतमात्रसे ब्राह्मण बने बैठे हैं, इसीसे शूद्र आँख दिखाते हैं। क्षत्रिय और वैश्यको न कहा क्योंकि ऊँचे वर्ण शान्त होते हैं, वे विप्रका दबाव मान मुलाहजा कर जाते हैं। शूद्र बेमुरव्वत होते हैं।

रा० प्र०—*'बादहिं सूद्र……'* इति। *बादहिं*=लड़ते हैं, विकत्थन करते हैं। *'जानै ब्रह्म सो बिप्रबर'* यह प्रमाण पढ़कर तथा युक्तिसे भी अपने अनुकूल कल्पना करके दबाते हैं।

नोट—*'हम तुम्ह ते कछु घाटि।'* भाव कि ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मको जाने। यथा—'………**य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।**' (बृह० ३। ८। १०) (अर्थात् हे गार्गि! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है)। हमें ब्रह्मज्ञान है, अतः हम ब्राह्मण हैं, तुम्हें ज्ञान नहीं अतः तुम ब्राह्मण कहाँ? इतना कहनेपर यदि वह कुछ और उत्तर देता है तो आँख लाल-पीली कर उसे डाँट देते, दुतकार देते हैं।—(करु०)

रा० प्र०—*'आँखि देखावहिं डाटि'*—जैसे बाघ-बिल्ली आदि अपने खानेके हेतु डरवाकर अचेत कर स्वयं खा लेते हैं।

दोहेका भाव यह है कि प्रमाण पढ़कर अपमान करते हैं। *'कछु घाटि'* अर्थात् हम बढ़कर हैं तुम द्विज हम ब्राह्मण विप्रवर। *'आँखि देखावहिं……'* का भाव कि न मानोगे तो दण्ड पाओगे, डंडेसे खबर ली जायगी।—आशय कि उनका धर्मपर ध्यान न रह गया। *'सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी॥'* (२। १७२। ६) के सब भाव यहाँ दिखाये।

नोट—वि० पु० में भी कलिधर्ममें कहा है *'समान पौरुष चेतो भावि विप्रषु वै कलौ।'* (६। १। २३) (अर्थात्) कलिमें ब्राह्मणोंके साथ शूद्रादि समानताका दावा करेंगे। मानसमें उसीको विस्तारसे स्पष्ट करके कहा है।

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥ १॥
तेइ अभेदबादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥ २॥
आपु गए अरु तिन्हहू* घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥ ३॥

अर्थ—जो परस्त्रीमें लिप्त (रत), कपट-चतुर, मोह-द्रोह-ममतामें लपटे हुए हैं वे ही मनुष्य अभेदवादी ज्ञानी हैं—यह चरित्र मैंने (उस) कलियुगका देखा॥ १-२॥ आप तो गये-गुजरे (नष्ट) हुए ही हैं और जो कहीं, कोई सन्मार्गका प्रतिपालन करते हैं तो उनको भी वे नष्ट करते हैं॥ ३॥

वै०—*'सयाने'* का भाव कि इन कामोंमें ऐसे प्रवीण हैं कि कोई उनका कपट आदि भाँप नहीं सकता, उनको पकड़ना तो दूर है।

* औरनि—पाठान्तर।

रा० प्र०—१ *'मोह द्रोह ममता लपटाने।'* भाव कि परधनमें मोह है, द्रोहसे परहानिमें तत्पर हैं, देहगेह आदिमें ममता है, दूसरोंके धन, घर, स्त्री आदिको भी अपना ही मान लिया है। *'लपटाने'* जैसे वृक्षमें लता, देहमें कीचड़ादि इस प्रकार। २—*'सयाने'* कहकर *'अभेदबादी'* कहनेमें भाव कि पहले तो कपटचातुरीके कारण कोई लख ही नहीं सकता, कदाचित् किसीने लख लिया तो अभेदवादी ज्ञानी बन गये कि हमारी दृष्टिमें तो सब आप-ही-आप, ब्रह्म ही हैं, यहाँ अपना-पराया भेद कहाँ।

पं०—*'तेइ अभेदबादी'* का भाव कि परधन-दारामें लंपट होनेसे यदि कोई उन्हें सदुपदेश दे कि ये बातें सज्जनोंके योग्य नहीं तो वे कहते हैं कि तुमको अपना-पराया सूझता है, हम सबको आत्मा जानते हैं।

नोट—१ (क) *'ब्रह्मज्ञान'* जो ऊपर कहा उसीको यहाँ *'अभेदबादी ज्ञानी'* से और स्पष्ट किया। यह कहकर कि नर-नारि सब ब्रह्मज्ञानकी ही बात करते हैं, अब यह बताते हैं कि कलिमें कौन लोग अभेदवादी होते हैं; उनके आचरण कैसे होते हैं? फिर उनकी घोर गति कहते हैं कि लोक-परलोक दोनों उनका नष्ट होता है। 'अभेदवाद'—*'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा'* यही अभेदवाद है। इसीको निर्गुण मत एवं ब्रह्मवाद कहते हैं। (ख) *'देखा मैं'* अर्थात् मैं किसीसे सुनी या ग्रन्थोंमें पढ़ी हुई नहीं कहता, यह सब चरित्र मैंने आँखों देखा है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण कह रहा हूँ। (ग) *'कहुँ'* का भाव कि कलिमें सन्मार्गपर चलनेवाला कहाँ, कहीं-कहीं ही एक-दो देखनेमें आते हैं सो वे भी इनके मारे सन्मार्गपर नहीं चलने पाते। (घ) *'औरनि घालहिं'* पाठका अर्थ खर्रामें इस प्रकार है कि—जो श्रुतिमार्ग प्रतिपालन करते हैं उनसे वे कहते हैं कि 'आप तो गये ही हैं दूसरोंको भी नष्ट करते हैं'—(करु०)। *'तिन्हहूँ घालहिं जे कहुँ—'* अर्थात् भक्ति आदि करनेवालोंसे कहकर कि क्या तुम कर्मकीचमें पड़ते हो, क्या उच्च ब्रह्मपदसे गिरकर सेवक बन रहे हो उनसे भी कुतर्कणा कर सन्मार्ग छुड़ा देते हैं। इस तरह अपने रङ्गमें लाकर उनका भी नाश करते हैं।

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥ ४॥
जे बर्नाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥ ५॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥ ६॥

अर्थ—वे लोग कल्प-कल्पभर एक-एक नरकमें पड़ते हैं जो तर्क करके वेदोंमें दूषण लगाते हैं॥ ४॥ तेली, कुम्हार, स्वपच, भील वा बहेलिये, कोल और कलवार जो वर्णोंमें अधम हैं वे स्त्रीके मरने वा घरकी धनादि सम्पत्ति नाश कर चुकनेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी होते हैं॥ ५-६॥

वै०—*'दूषहिं श्रुति करि तरका'* अर्थात् वेदने जो जीवोद्धारके पाँच उपाय—कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपन्नता, कृपाबल आदि बताये हैं उनमें दोष लगाते हैं; जैसे कि कर्म बन्धन है, कथामें व्याह युद्धादि सुननेसे क्या? पत्थर पूजनेसे क्या? होम-तर्पण-तीर्थाटनादिसे क्या?

पं०—१ *'कल्प......।'* अर्थात् वे कहते हैं कि नरक-स्वर्ग किसीने देखे हैं, ऋषियोंने त्रास देनेके लिये ये वाक्य वेदोंमें धर दिये हैं इत्यादि, कुतर्ककर श्रुतियोंको दूषण देते हैं। २—*'जे बर्नाधम......'* इति। वेदोंने विप्रों और तीव्र वैरागियोंको ही संन्यास धारणकी आज्ञा दी है पर कलिमें तेली, कुम्हारादि संन्यासी बन बैठते हैं। ३—*'नारि मुई......'* से जनाया कि वे वैराग्यके कारण भी संन्यासी नहीं होते, अपने दुराचारोंसे सर्वस्व नाश कर बैठे, कुछ पास न रह गया। पेट कैसे पालें, बस संन्यासी हो गये।—[*'मूड़ मुड़ाइ'* का भाव कि इतने ही मात्रसे वे संन्यासी हैं और कोई बात संन्यासीकी उनमें नहीं है। इससे दिखाया कि कलिमें संन्यासी बन जाना केवल पैसा-दो-पैसासे ही बन जाता है जिससे मूँड़ मुँड़ जाय। संन्यासी बनना इतना सहल हो गया।]

वि० त्रि०—संन्यासका मुख्य अधिकार ब्राह्मणका ही है। क्षत्रिय, वैश्य भी वैराग्य होनेपर संन्यास ले सकते हैं। पर लिङ्ग धारण नहीं कर सकते। जिस भाँति शिखा, यज्ञोपवीत ग्रहण करनेका विधान है, उसी भाँति उसके त्यागनेका भी विधान है। संन्यासीको केवल भिक्षा, कौपीनका अधिकार है। पूजा प्राप्त करनेका

अधिकार नहीं है। सो कलियुगमें अधम वर्ग दरिद्रताके कारण संन्यास लेंगे। विधान कुछ भी नहीं, केवल सिर मुड़ा लेंगे और तब ब्राह्मणोंसे पूजा प्राप्त करनेके लिये अग्रसर होंगे। उन्हें लोक-परलोकका डर न होगा।

करु०—'*बर्नाधम तेलि कुम्हारा*......' ये चार वर्णोंके 'बाह्य' होनेसे अधम हैं।

रा० शं०—अभेदवादियोंकी प्रथमावस्था कहते हैं कि वे जन्म, कर्म दोनोंसे अधम थे ही; अब और भी अधम बन गये। '*नारि मुई*......' में भाव कि विषयभोगकी सामग्री न रह जानेसे संन्यासी हुए, वैराग्यसे नहीं।

ते बिप्रन्ह सन आपु* पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥ ७॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥ ८॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥ ९॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥ १०॥

शब्दार्थ—**वृषल**=शूद्र। **वृषली**=शूद्रा स्त्री, वह स्त्री जो अपने पुरुषको छोड़कर परपुरुषसे प्रेम करती है। कुलटा। **लोलुप**=अत्यन्त तृष्णावंत। यथा—'*चंचल चरन लोभ लगि लोलुप*......' इति विनये। विषयलंपट।

अर्थ—वे ब्राह्मणोंसे अपनेको पुजाते हैं, अपने हाथों अपने दोनों लोक (इहलोक और परलोक) नष्ट करते हैं॥ ७॥ ब्राह्मण निरक्षर (अपढ़ अक्षरतकका जिसे ज्ञान नहीं), लोलुप, कामी, सदाचाररहित तथा दुराचारी, शठ (अपनी हानिलाभ न समझनेवाले मूर्ख, खल), और नीच जातिकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके स्वामी होते हैं॥ ८॥ शूद्र अनेक प्रकारके जप, तप, व्रत करते और व्यासगद्दीपर बैठकर पुराण कहते हैं। अर्थात् व्यास बन बैठते हैं†॥ ९॥ (कहाँतक और किस-किसकी कही जाय) सभी मनुष्य तो मनमाना आचरण करते हैं। इतना अपार अन्याय होता है कि वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १०॥

नोट—१ (क) '*ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं।*' विप्रोंसे पुजाना कहा; क्योंकि संन्यासियोंको ब्राह्मण लोग स्वाभाविक भोजन देते हैं, उनको गुरुतुल्य मानते हैं। इसीसे वे ब्राह्मणोंके द्वार-द्वार फिरते हैं। (वै०) (ख) '*उभय लोक*......।' कपट खुलनेपर यहीं पूजा पा जाते हैं और मरनेपर यमपुरमें तो भली प्रकार पूजा होगी ही। कोई ऐसा कहते हैं कि जिनके माँ-बापका प्रमाण नहीं ऐसे वर्णाधम स्त्री और सम्पत्तिके नाश होनेपर संन्यासी बने, यह लोक नष्ट हुआ और फिर विप्रोंसे पुजाया जिससे परलोक नष्ट हुआ। (रा० प्र०) पुनः, '*उभय लोक*' का नाश यों कि धनके होते भी लोगोंकी शंकासे उसको भोग न कर पाये और ज्ञानादि न होनेसे (तथा अपने श्रुतिविरोधी आचरणोंसे) परलोक नष्ट हुआ। यदि कहो कि ब्राह्मण ही उन्हें क्यों पूजते हैं, तो उसपर कहते हैं कि—'*बिप्र निरच्छर लोलुप*......।' (पं०) पुनः, भाव कि अपने जाति-धर्मका पालन करते तो दोनों बन जाते। सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण और सबसे लघु शूद्र इन दोको कहकर बीचके दो वर्णोंकी भी वही व्यवस्था सूचित की। (रा० शं०)

☞ '*ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात*' से '*उभय लोक निज हाथ नसावहिं*' तक अभेदवादी ज्ञानियोंका वर्णन है। आगे अन्य वर्णोंकी व्यवस्था कहते हैं।

नोट—२ '*बिप्र निरच्छर*......' इति। (क) भाव कि जिन्हें सदाचार वेद-वेदाङ्ग पारंगत होना चाहिये वे ऐसे गये-गुजरे कि अक्षरका भी उनको ज्ञान नहीं। (प्र० सं०) पुनः अक्षर=ब्रह्म=वेद। निरक्षर=वेदविहीन। वेदविहीन विप्र शोचनीय है ही; यथा—'*सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लय*

* पाँव—(का०)। आपु—भा० दा०, रा० गु० द्वि०, पं०।

† 'शिश्नोदरपरा द्विजाः' 'शूद्राः प्रतिगृहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम्'। भा० १२। ३। ३२, ३८ में भी यही प्रधान भाव है। अर्थ है—ब्राह्मण शिश्न और उदर इन दोनोंके ही परायण होंगे अर्थात् अगम्यागम्य स्त्रियोंके साथ रमण और पेट भरना ही जानेंगे। स्वकर्तव्य वेदादिपठनपाठनसे सर्वथा अज्ञ रहेंगे। ३१। 'कलियुगमें अधर्मज्ञ शूद्र तपस्या करनेका ढोंग फैला जीविका चलानेवाले बन भक्तनिर्मित व्यासगद्दी आदिपर बैठकर धर्मोपदेश करेंगे अर्थात् धार्मिक ग्रन्थोंकी कथा कहेंगे और दान ग्रहण करेंगे।'

लीना॥' (२। १७२। ३) पुनः, *'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' 'आखर मधुर मनोहर दोऊ'* के अनुसार *'निरच्छर'* का भाव यह भी होता है कि वेदविहीन तो हो ही गये पर वेदोंके समान एवं उनका सार जो 'राम' नाम है उसका जप-चिन्तन भी नहीं करते। (प० प० प्र०) (ख) *'लोलुप'* से जनाया कि तृष्णावश अत्यन्त नीचके घर खाते हैं। जैसा अन्न वैसी ही बुद्धि हुआ चाहे। पुनः, लोलुप हैं अर्थात् पशुवत् चञ्चल हैं, कुछ विचार ही न रह गया, ऐसे कामातुर कि द्विपद होकर चतुष्पदके कान काटे। निराचार हैं अर्थात् वर्णाश्रम धर्माचार छोड़ बैठे हैं। (रा० प्र०)

३ *'सूद्र करहिं जप……'* जप-वेदादि मन्त्रका, तप वानप्रस्थ-रीति, व्रत ब्रह्मचर्यादि। *'बैठि बरासन……'* का भाव कि ब्राह्मणको आचार चाहिये सो वे तो निराचारी हो गये, शूद्रा स्त्रीके पति बनकर शूद्र हो गये तब शूद्र उनका कर्म करने लगे। जप-तपादि करना, पुराण कहना इत्यादि ब्राह्मणोंके कर्म हैं। *'कल्पित करहिं अचारा'* में भाव यह है कि मनु आदि द्वारा कथित शास्त्रोंको छोड़ मनकी करने लगे, नीति भी छोड़ दी।

दो०—भए बरनसंकर कलि* भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग॥
श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥१००॥

शब्दार्थ—**बरनसंकर**=वह व्यक्ति या जाति जो दो भिन्न-भिन्न जातियोंके स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हो। दोगला। व्यभिचारसे उत्पन्न पुरुष। वर्णसंकर—स्मृतियोंमें ऐसी बहुत-सी जातियाँ गिनायी गयी हैं। वर्णसङ्कर दो प्रकारके कहे गये हैं—'अनुलोमज और प्रतिलोमज।' अनुलोमजका पिता मातासे श्रेष्ठ होता है और प्रतिलोमजकी माता पितासे श्रेष्ठ वर्णकी होती है। प्रतिलोमज संकर प्राचीन कालमें निषिद्ध माने जाते थे। अनुलोम विवाहका प्रचार प्राचीन कालमें था पर पीछे बंद हो गया। धर्मशास्त्रोंमें वर्णसंकरताके कारण ये गिनाये गये हैं—व्यभिचार, अवेद्यावेदन और स्वकर्मत्याग। (श० सा०)

अर्थ—कलिमें सभी लोग वर्णसङ्कर और 'भिन्न-सेतु' हो गये (भिन्न-भिन्न श्रुतिविरुद्ध मार्गपर चलने लगे)। सब पाप करते हैं और (उसका फल) दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग पाते हैं। वैराग्य-विवेक-संयुक्त भगवद्भक्ति वेदसम्मत मार्ग हैं।† उसपर मोहके वश लोग नहीं चलते और मोहवश अनेक मनमाने मार्ग कल्पित करते हैं॥ १००॥

करु०—*'भिन्न सेतु सब लोग।'* अर्थात् श्रुतिसेतु छोड़कर अन्य-अन्य सेतु-(पुल, मार्ग-) पर चलने लगे।‡

गौड़जी—*'श्रुतिसेतु'* वा *'श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ……'* भवसागरके लिये यह एक ही सेतु है। मनुष्य अज्ञानके वश होकर इस निस्सन्देह पदको त्याग देते हैं और अनेक पंथोंकी कल्पना करते हैं, कल्पित रास्तोंपर चलते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि कलियुगमें सब वर्णसंकर हो गये हैं, वर्णधर्मका लोप हो गया है। एक तरफसे तो किसीको यही नहीं मालूम कि हम किस वर्णके हैं और दूसरी ओर यदि मालूम भी है कि हम किस वर्णके हैं तब भी उस वर्णके श्रुतिसम्मत धर्मका पालन नहीं करते।—(शंका—वेदके आधुनिक विद्वान् तो कहते हैं कि वेदोंमें अर्थात् संहिताओंमें वर्णधर्मकी कहीं चर्चा नहीं है, फिर श्रुतिसम्मत वर्णधर्म कैसा? समाधान—श्रुतिका तात्पर्य केवल संहिता नहीं है। श्रुति साङ्गोपाङ्ग वेदको कहते हैं अर्थात् कल्पसूत्रादि छः अङ्ग और पुराण इतिहासादि चार उपाङ्ग श्रुतिकी अभिधाके अन्तर्गत हैं।)—फिर आखिर वेदमार्ग छोड़कर

* सकल—(का०)।

† अर्थ—'श्रुतिसम्मत वेदवेदाङ्ग शास्त्रोंको, हरिभक्ति पथ तीनों काण्डोंकी रीति और वैराग्यविवेकसहित'-(रा० प्र०)।

‡ १ वै०—'सेतुभिन्न……' अर्थात् जातिकी मर्यादा छोड़कर सबने और-और जातिका संग्रह कर वंश बढ़ाया। २—रा० प्र०-अर्थात् वर्णसंकरतासे अपनी-अपनी मर्यादा चली गयी। व्यासादिने जो वेदार्णवपर सेतु बाँधे उसे तोड़कर।

किस रास्तेपर चलें? तो हैरान होकर '*मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा।*' इसीलिये अपनी-अपनी पसंदके '*सेतु*' से लोग भवसागर तरना चाहते हैं। यहाँ मारग और पन्थ आदि पर्याय न कहकर '*सेतु*' कहनेमें विशेष प्रयोजन है। सभी पन्थायी इस बातका दावा करते हैं कि हमारे रास्तेसे बढ़कर कोई दूसरा रास्ता नहीं है, भवसागर तरणके लिये हमारा पन्थ एकमात्र '*सेतु*' है। नाव जहाज बेड़ेमें डूबनेका भय रहता है, यात्री माँझीके अख्तियारमें रहता है और तूफानका कोई ठिकाना नहीं फिर भी दूसरा किनारा मालूम नहीं कि मिलेगा या न मिलेगा। सेतुवाला यह दावा करता है कि हमारे मार्गमें ऐसा कोई डर नहीं है, माँझीकी पराधीनता नहीं, तूफानका डर नहीं और दूसरे किनारेतक पहुँचना निश्चय है, पुल ही ठहरा। '*सेतु*' में ये सभी भाव आते हैं। आदमी '*सेतु*' के नामपर ही मोहित हो जाते हैं, यह कम खयालमें आता है कि सेतु सभी तरहके हो सकते हैं, दृढ़ भी हो सकते हैं और लचर भी, सँकरे हो सकते हैं और चौड़े भी, बीचसे ही टूटे हुए हो सकते हैं कि बीचसे ही यात्रीको लौटना पड़े अथवा किनारेके करीब ही पहुँचकर खतम हुए हो सकते हैं, अथवा झूलेकी तरह डगमगानेवाले भी हो सकते हैं, अथवा बीच-बीचमें खन्दक-खाईवाले भी हो सकते हैं। निदान सेतुके अनेक प्रकार ऐसे भी हो सकते हैं जिनसे यात्रीको कोई सुभीता न हो सके बल्कि धोखा-ही-धोखा रहे। सबसे सीधा, सबसे निकट, सबसे सुगम, बिलकुल बेखतर राजमार्गोपम श्रुतिसेतु ही एक सेतु है जिससे जीव सहज ही पार हो सकता है। '*सत्यसंधपालक श्रुतिसेतु*' रामकी भक्तिको छोड़ सब लोग भिन्न सेतुओंपर आरूढ़ हैं। देखनेमें सभी '*सेतु*' अर्थात् सच्चे मार्ग जान पड़ते हैं, लेकिन कुछ दूर चलकर लोग धोखा खाते हैं और अधर्मका आचरण करते हैं जिससे उनको दुःख होता है, भय मिलता है, रोगग्रस्त होते हैं, शोकसे सताये जाते हैं और स्वजनों और हितैषियोंका वियोग होता है। श्रुतिसे भिन्न वा विरुद्धमार्गपर चलना पाप करना है और पापका परिणाम दुःख, भय, रुज, शोक, वियोग ये पाँचों हैं।

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि* बिरती॥ १॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥ २॥
कुलवंति† निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥ ३॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लों। अबलानन दीख नहीं जब लों‡॥ ४॥

शब्दार्थ—**निबेरि गती**=जिसकी गति संसारमें गयी-गुजरी है। (पं० रा० व० श०)।=कुलकी परम्परा-गतिको काटकर। (पाँ०)।=जो परम्पराकी चाल कुल एवं देशमें चली आयी है उसे छोड़कर। (रा० प्र०)। उत्तम चालको त्यागकर। (रा० प्र०)=निश्चल करके (वि० त्रि०)। **कुलवंति**=कुलीन; कुलधर्मका पालन करनेवाली पतिव्रता।

अर्थ—यती (संन्यासी) बहुत धन लगाकर घर एवं धन-धाम दोनों सजाते हैं। वैराग्य न रह गया, उसे विषयोंने हर लिया॥ १॥ तपस्वी धनवान् और गृहस्थ दरिद्र (कंगाल, धनहीन) हो गये। हे तात! कलियुगका खेल-तमाशा कहा नहीं जा सकता॥ २॥ लोग कुलीन पतिव्रता स्त्रीको निकाल देते हैं और अच्छी चालको त्यागकर घरमें दासीको लाकर निश्चल करके रखते हैं॥ ३॥ पुत्र तभीतक माता-पिताको मानते हैं जबतक उन्होंने स्त्रीका मुख नहीं देखा॥ ४॥

नोट—'**अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः। तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः॥**' '**पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः। ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः॥**' (भा० १२। ३। ३३, ३७) में यही मुख्य भाव है। अर्थ—कलियुगमें ब्रह्मचारी व्रतरहित और शौच, पवित्र कर्मोंसे हीन होंगे। गृहस्थ स्वयं भीख माँगेंगे; तपस्वी वनस्थ ग्रामवासी हो जायँगे और संन्यासी धनके लोभी बन जायँगे॥ ३३॥ रतिके निमित्त स्नेह करनेवाले

* हरि लीन रही बिरती—(रा० गु० द्वि०, क०)=जो विरति थी उसे विषयने हर लिया। भाव कि यती नाम ही भर रह गया, विवेकसे वैराग्य हो गया।—(रा० प्र०)

† कुलवंति (भा० दा०, पं०, वै०)। कुलवंत-(का०)। ‡अबला नहिं डीठ परी जब लों।-(का०)

स्त्रीवश नर, पिता, माता, मित्र जाति सम्बन्धी बान्धवोंको छोड़कर साली-सालोंकी सलाहपर चलनेवाले हो जायँगे; अत: सब दीन रहेंगे।

पं० रा० व० श०—१ *'बहु दाम सँवारहिं………'* अर्थात् उनका वैराग्य विषयमें लीन हो गया। *'तपसी धनवंत दरिद्र गृही'* का भाव कि कलिने धन देकर उनको तपसे च्युत कर दिया और गृहस्थको दरिद्र करके उसे धर्मसे अशक्त कर दिया, बिना धनके धर्म कैसे करेगा? विरक्त और गृहस्थ दोनोंपर कलिका प्रभाव दिखाया।

'न रही बिरती' अर्थात् पहले जो कुछ अंश वैराग्यका था वह भी न रह गया। *'तपसी धनवंत………'* क्योंकि तपस्वीकी आय बहुत है, खर्च कर्म है और गृहस्थका खर्च बहुत है और धनकी प्राप्ति अल्प है।

वै०—*'कलि कौतुक………'* इति। भाव कि जिनको संग्रह न चाहिये वे धाम सँवारें और विषयोंमें लीन रहें। जिनको धन चाहिये वे बेचारे दरिद्र हो रहे हैं, एक समय भी पेटभर भोजन नहीं मिलता।

वि० त्रि०—*'कुलवंति………गती'* इति। सत्कुलप्रसूता सती स्त्रीको घरके बाहर निकाल देंगे, क्योंकि वह निर्लज्ज होकर उनके साथ मित्र-मण्डलमें जाना न चाहेगी और बेहया चेरीको घर लावेंगे। चेरी कहेगी कि तुम्हारा क्या ठिकाना, तुमने अपनी स्त्रीको घरसे निकाल दिया तो समय-पत्र (इकरारनामा) लिखकर रजिस्टरी करा देवेंगे कि मैं इसका सदा पालन करूँगा और घरसे न निकालूँगा। *'निबेरि गती'* का अर्थ ही है निश्चल कर देना।

वै०—*'मानहिं मातु पिता तब लौं'* का भाव कि मानना चाहिये तो जन्मभर पर वे ऐसा मानते नहीं, यथा धर्मशास्त्रे—**'जीवितस्य पितुर्वश्यस्तन्मृते भूरिभोजने। गयायां पिण्डदानेन त्रिभिर्पुत्रस्य पुत्रता॥'**

ससुरारि पिआरि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुंब भए तब तें॥५॥
नृप पापपरायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥६॥
धनवंत कुलीन मलीन अपी। द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी॥७॥

अर्थ—जबसे ससुराल प्यारी लगी तबसे कुटुम्बी शत्रुरूप हो गये॥ ५॥ राजा पापरत हो गये, उनमें धर्म न रह गया, नित्यप्रति ही प्रजाको झूठे ही निरपराध दण्ड देते फजीहत करते रहते हैं॥ ६॥ निश्चय ही मलिन होनेपर भी धनी कुलीन माने जाते हैं। *जनेऊमात्र द्विज होनेका और उघारे (कुछ पहने ओढ़े न) होना तपस्वीका चिह्न रह गया॥ ७॥

नोट—१ *'नृप पापपरायन………'* इति। (क) धर्म नहीं है, इसीसे वहाँ धर्म-नीतिके प्रथम तीन चरण न रहकर एक दंडमात्र रह गया। जो अन्तिम उपाय है वही यहाँ प्रधान है। रामराज्यमें धर्म परिपूर्ण था इससे वहाँ दंडका नाम भी न था। (ख) *'करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं'* इति। *'बिडंबना'* शब्द पूर्व दोहा ७० में भी आया है—*'केहि के लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार।'* विडंबन, विडंबना संस्कृत भाषाके शब्द हैं। श० सा० में इसके ये अर्थ मिलते हैं—किसीको चिढ़ाने या अपमानित करनेके लिये उसकी नकल उतारना, हँसी उड़ाना; निन्दा वा उपहास करना; डाँटना, उपटना, फटकारना।' इस तरह फजीहत, उपहास और दुर्दशा अर्थ भी कर सकते हैं। इस प्रकार चरणके अर्थ ये हो सकते हैं (१) नित्य ही (अन्याय और जोरावरीसे) प्रजाको दण्ड देकर फजीहत वा दुर्दशा करते हैं। (वीर) (२) दण्डका ढोंग, स्वाँग करके नित्य प्रजाको दण्ड देते हैं—इस अर्थमें *'दंड'* शब्द अन्वय करनेमें दो बार लिया जायगा। भाव यह है कि निरपराधको दण्ड देनेके लिये वैसा अर्थ कर लेते हैं। इस तरह दण्ड नीतिका उपहास होता है। (३) नित्य ही प्रजाको दण्ड एवं डाँट-फटकार फजीहत करते रहते हैं।

२—*'द्विज चिन्ह जनेउ………।'* भाव कि विप्रोंके सदाचार, कर्म, धर्म तो कोई रह न गये, शरीरपर एक

* 'वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदय:॥ २॥ (भा० १२। २)। अर्थ कई प्रकार किये गये हैं—(१) धनवान् कुलीन और कुलीन मलिन हो गये।-(पां०)। (२) कुलीन भी धनवन्त होकर मलिन हो गये। (रा० प्र०)

जनेऊमात्र चिह्न रह गया। (करु०) जो किसीने पूछा कि कौन वर्ण हो तो जनेऊ दिखा दिया कि देखते नहीं, हम जनेऊ पहने हैं, ब्राह्मण हैं। इसीसे लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे व्यङ्गमें कहा है—**'*भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी*'** (रा० प्र०) (भा० १२। २। ३) में भी कलिमें ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें यही कहा है। यथा—**'विप्रत्वे सूत्रमेव हि।'** इसी तरह तपस्वियोंमें तपस्या तो रह न गयी। उधारे रहनेसे 'तपसी' कहलाते हैं।

३—दण्डकी विडंबना=निरपराधीको दण्ड देकर दण्डकी नीतिकी फजीहत करना, मखौल उड़ाना।

४—'*धनवंत कुलीन।*' इति। भाव कि जो कुलीन हैं पर धनहीन हैं उनको कोई पूछता ही नहीं, कोई उनसे सम्बन्ध नहीं करता, वे मलिन समझे जाते हैं और जो नीच और मलिन हैं पर धनी हैं उनसे सब नाता लगाते हैं, सम्बन्ध करते हैं। (पं०, वै०) मनुजी कहते हैं कि कुल-क्रियामें कम और मलिनसे विवाह करनेसे कुलीनता नहीं रह जाती। (पं० रा० व० श०) पर कलिमें धनाढ्य ही कुलीन माने जाते हैं। श्रीभर्तृहरिजीने कहा है **'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स धार्मिकः स श्रुतिमान् गुणज्ञः। स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥'**

करु०—'*मलीन अपी*'=निश्चय ही कुल और क्रियासे मलिन हैं।

नहि मान पुरानहि बेदहि जो। हरि-सेवक संत सही कलि सो॥ ८॥
कबिबृन्द उदार दुनी न सुनी। गुनदूषक* ब्रात न कोपि गुनी॥ ९॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥ १०॥

अर्थ—जो न तो पुराणोंको माने और न वेदको, कलियुगमें वही ठीक सच्चा भगवत्-भक्त और संत (कहा जाता) है॥ ८॥ कवियोंके झुंड देख पड़ते हैं पर दुनिया-(संसार-) में दाता सुना नहीं जाता†। गुणमें दोष लगानेवाले बहुत हैं और गुणी कोई भी नहीं है॥ ९॥ कलियुगमें बारम्बार अकाल (दुर्भिक्ष) पड़ता है, बिना अन्नके सब लोग दुःखी होकर मरते हैं‡॥ १०॥

रा० प्र०—१ '*नहि मान......*' '*साखी सब्दी दोहरा कहि किहनी उपखान। भगति निरूपहि कलिभगत निंदहिं बेद पुरान॥*' (दो० ५५४) २—'*हरि-सेवक संत सही......*' अर्थात् वे कहते हैं कि हम ज्ञानी उपासक हैं हमको और बन्धनसे क्या काम? हम तो उस हरिके सेवक हैं कि जिसके श्वाससे वेद हुआ, तब हम वेदके अधीन क्यों रहें, वह तो ब्रह्मको जानता नहीं नेति-नेति करता है। हम जानते हैं, हमारा संतमत है। ३—हरिसेवक और सन्त दो अधिकारभेदसे कहे। ४—ब्रात (सं० व्रात्य)=सब।=जिनका संस्कारकाल बीत गया या जिनने प्रायश्चित्त न किया हो।-[जिसके दस संस्कार वा यज्ञोपवीत न हुआ हो। ऐसा मनुष्य पतित समझा जाता है—(श० सा०)]

नोट—'*न सुनी*'—जब सुननेमें ही नहीं आता तब देखनेमें कहाँसे आये।

करु०—'*गुनदूषक ब्रात न कोपि गुनी।*'—भाव कि गुणको दूषण करें वे ही निश्चय करके गुणवान् कहाते हैं।

दो०—सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाषंड।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥
तामस धर्म करहिं नर जप तप मख ब्रत दान।
देव न बरषहिं धरनी# बए न जामहिं धान॥ १०१॥

---

* गुनदूषन—(का०, पं०) १२—खर्रा 'उदार'—'ध्वनि रस अलङ्कारयुक्त'

† वै०—अथवा, मनुष्यका यश गानेवाले स्वार्थी कवियोंके वृन्द बहुत हैं परंतु उदार कवि परमार्थी हरियश गानेवाला दुनियामें एक भी सुननेमें नहीं आता।

‡ दुःखी तो सभी होते हैं पर ये दुःखी जन मर ही जाते हैं।—(वै०)

धरनि पर—रा० पु० द्वि०। देव=देवता, मेघ, मेघके देवता।

अर्थ—हे गरुड़! सुनिये। कलियुगमें ब्रह्माण्डभरमें कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखंड, मान, मोह, कामादि (अर्थात् काम, क्रोध, लोभ) और मद व्याप्त हो गये। मनुष्य (तमोगुणयुक्त) जप, तप, यज्ञ, व्रत, दान आदि धर्म तामसी रीति वा वृत्तिसे करते हैं। (मेघके) देवता पृथ्वीपर जल नहीं बरसते, बोनेपर भी धान नहीं जमता॥ १०१॥

रा० प्र०—१ कपट अर्थात् जिनसे स्वच्छता चाहिये उनसे भी दुराव। हठ अर्थात् जो मन और मुँहमें आ गया बिना बिचारे उसीका आग्रह। दंभ—सेवा-पूजा सब ठगहरी। द्वेष—*'जो कर हित अनहित ताहू सों।'*

पं० रा० व० श०—*'कपट हठ दंभ·········'* इति। मित्रादिसे कपट, अच्छी, बात न माननेमें हठ, दिखानेके लिये वेष यह दंभ और कर्म-धर्म सब पाखंडमय (अर्थात् अपनी श्रद्धा उनमें नहीं है)।

वै०—*'हठ'*—अर्थात् जो बात कह दी फिर उसीमें हठ करते हैं चाहे वह ठीक न भी हो और दूसरा कोई समझावे तो उसकी नहीं मानते।

नोट—दंभ, कपट, पाखण्डके भेद पूर्व कई बार लिखे जा चुके हैं।

नोट—*'तामस धर्म·········दान'* इति। कर्म करनेमें प्रथम चार बातोंका विचार कर लेना चाहिये—एक तो यह कि इसका परिणाम क्या होगा, इसके करनेके पश्चात् कोई दुःख तो न होगा। दूसरे, इसके करनेमें कितनी शक्ति या धनका क्षय होगा। तीसरे, इस कर्ममें प्राणियोंको पीड़ा तो न पहुँचेगी अथवा कितनेको और क्या पीड़ा पहुँचेगी। चौथे कि अपनेमें इस कर्मको पूर्ण करनेका सामर्थ्य है या नहीं। इन्हींको क्रमशः अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष कहा गया है।—जप, तप, यज्ञ, दान आदि कोई भी कर्म जो इन चारोंकी उपेक्षा करके, उनकी परवाह न करके मोहपूर्वक आरम्भ किये जाते हैं, वे तामस कहलाते हैं। '**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥**' (गीता १८। २५) *'तामस जप'*—जैसे कि मारण-मोहन आदि प्रयोगके लिये जो जप किये जायँ। *'तामस तप'*—अपनी शक्तिकी बिना जाँच किये, अपनी आत्माको पीड़ा पहुँचाकर अथवा दूसरोंका अनिष्ट करनेके विचारसे जो तप मूढ़तापूर्वक आग्रहसे किया जाता है वह तामसी है। यथा—'**मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥**' (गीता १७। १९) इसी प्रकारके व्रत तामस व्रत हैं। तामस यज्ञ=जो यज्ञ शास्त्रविधिसे रहित हैं, जिसमें शास्त्रविहित वस्तुओंका प्रयोग नहीं किया जाता, ब्राह्मणोंको अन्न नहीं दिया जाता, जो मन्त्रहीन है अर्थात् मन्त्र, स्वर और वर्णसे रहित है। जो बतलायी हुई दक्षिणा और श्रद्धासे रहित है। यथा—'**विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥**' (गीता १७। १३) तामस दान=वह दान जो अयोग्य देश-कालमें (अर्थात् अशुद्ध वस्तुओं म्लेच्छादिसे युक्त पापमय देशमें तथा पुण्यके हेतु बतलाये हुए संक्रान्ति आदि विशेषतासे रहित कालमें) और (मूर्ख, चोर आदि) अपात्रोंको दिया जाता है, तथा जो (प्रिय वचन, पादप्रक्षालनादि) सम्मानके बिना अथवा पात्रका अपमान करते हुए दिया जाता है। यथा—'**अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥**' (गीता १७। २२)

पं० रा० व० श०—*'तामस धर्म'*—जप-तप-व्रतादि सब धर्म तीन प्रकारके होते हैं—सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। कलियुगमें लोग वही जपतपादि करते हैं जिन्हें ऋषियोंने तामसी बताया है। तामस धर्म करना कहकर उसका फल कहते हैं कि वर्षा नहीं होती, उसके न होनेसे धान नहीं पैदा होता।

रा० प्र०—*'तामस धर्म।'* भाव कि सब काम प्रायः मारणादि वा मजूरी लेनेके हेतु या रूठकर करते हैं। *'तामस तप'*—जैसे किसीपर धरना दे बैठे। व्रत—जैसे किसीपर उपवास किया या मिला नहीं इससे भूखे रह गये और कहा कि व्रत किया है। दान—जैसे कि गङ्गामें गिर पड़े या चोरी जाय तो कह दें कि दान कर दिया। वा, दिया भी तो रिसाकर।—

वै०—सब धर्म क्यों निष्फल जाते हैं उसका कारण बताते हैं कि सब तामस धर्म करते हैं। सत्त्वगुणसहित धर्म किये जायँ तो सुखरूपी फल शीघ्र प्राप्त हो पर ये तामस धर्म करते हैं। इसीसे निष्फल जाते हैं। तमोगुणसहित जो अधर्म किया जाय वह अधर्म सफल होता है।

(त्रोटक छन्द)

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा॥ १॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥ २॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं॥ ३॥

अर्थ—स्त्रियोंके बाल ही भूषण हैं (अर्थात् दिन-रात वे बाल बढ़ाने और सँवारनेमें लगी रहती हैं, इसीमें सब धन लगाती हैं), भूख बहुत लगती है (अर्थात् बारंबार भोजन करती हैं तो भी तृप्ति नहीं होती)। धनरहित, दुःखी रहती हैं फिर भी प्रायः बहुत प्रकारसे ममत्व रहता है॥ १॥ मूर्ख हैं, सुख चाहती हैं पर धर्ममें प्रेम नहीं है। बुद्धि क्षुद्र और (वह भी) कठोर है, कोमलता (का नाम) नहीं॥ २॥ मनुष्य रोगसे दुःखी हैं, (सुख) भोग कहीं नहीं, बिना कारण ही अभिमान और विरोध करते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'अबला कच भूषन·····'* इति। स्त्रियोंका बाल ही भूषण था, इस कथनमें भाव यह है कि कलिमें सुवर्ण, मणि, रत्न और वस्त्रोंके क्षीण हो जानेसे स्त्रियाँ केश-कलापोंसे ही अपनेको भूषित करेंगी। केशोंसे ही स्त्रियोंको सुन्दरताका अभिमान होगा। यथा—'**स्त्रीणां रूपमदश्चैव केशैरेव भविष्यति।**' (वि० पु० ६। १। १६) '**सुवर्णमणिरत्नादौ वस्त्रे चोपक्षयं गते। कलौ स्त्रियो भविष्यन्ति तदा केशैरलंकृताः॥**' (१७) भाव यह है कि कलियुगमें सुन्दरताके विषयमें केवल बालोंका रखाना, बढ़ाना, तैलादिसे चिक्कण बनाना मुख्य शृङ्गार समझा जायगा; स्त्रियोंका बाल रखना ही उत्तम जँचेगा। यथा—'**लावण्ये केशधारणम्।**' (भा० १२। २। ६)

रा० प्र०—सुकुमारताके मिष या दरिद्रताके कारण बाल ही भूषण हैं।

पं०—*'कच भूषन'* का दूसरा अर्थ 'काँचके भूषण' भी हैं।

नोट—२ *'भूरि छुधा, धनहीन·····'* इति। 'भूख बहुत' कहकर 'अधिक आहारी' जनाया। धनहीन अर्थात् पैसा पास नहीं है। *'भूरि छुधा'* कहकर *'धनहीन'* कहनेका भाव कि जो धन था वह पेट भरनेमें खर्च हो गया। धन न रह गया तब आभूषण बेंच-बेंचकर खा डाले। भूषणके नामसे छल्ला, बाली, नथतक न रह गये, अतएव केशोंको भूषण बना रखा है, उन्हींको नित्य सँवारती हैं (वै०) पुनः, भाव कि भूख बहुत लगती है, लज्जावश प्रकट नहीं करतीं, अपने आभूषण छिपा-छिपाकर बेंच खाती हैं; अतः निर्धन हो जाती हैं। (रा० प्र०) 'निर्धन है पर भूख बहुत है' इस कथनसे तमोगुण सिद्ध हुआ। (पं०)। निर्धन होनेसे दुःखी हुआ ही चाहें। *'ममता बहुधा'* में यह भी भाव है कि ऐसी दशा होनेपर भी संतान उत्पन्न करनेकी चाह बहुत रहती है, उसमें सुख मानती हैं पीछे सन्तानमें ममत्वके कारण दुःख चाहे जो उठाना पड़े। ममताको दादकी उपमा आगे दी ही गयी है। निर्धन, दुःखी आदि कहकर इनके कारण जो दोष आ जाते हैं वे भी ध्वनित होते हैं। इस तरह यहाँ भागवतके '**यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः। कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥**'(१२। ३। ३१), '**ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः। शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः॥**' (३४) इस उद्धरणका भाव भी यहाँ चार चरणोंमें जना दिया '**महाशनाः**' '**महाहाराः**' ही *'भूरि छुधा'* है, '**वित्तहीनाः**' ही *'धनहीन'* है। '**कामिनः**' '**भूर्यपत्या**' '**गतह्रियः**' का भाव *'ममता बहुधा'* में है। '**क्षुद्रदृशः**' ही *'मति थोरि'* है। '**कटुकभाषिण्यः**' ही *'कठोरि न कोमलता'* है। '**क्षुद्रभाग्याः**' का भाव *'मूढ़'* में है। अपनी वस्तुपर बहुत मोह होना भी ममता है।

वै०—*'ममता बहुधा'* भूषणादि कुछ हैं नहीं पर चाह बहुत भाँति बनी रहती है।

वि० पु० ६। १। २८—३० में भी प्रायः ऐसा ही कहा है। यथा '**लोलुपा ह्रस्वदेहाश्च बह्वन्नादनतत्पराः। बहुप्रजाल्पभाग्याश्च भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः॥ २८॥·····परुषानृतभाषिण्यो भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः॥**'(३०)

नोट—३ *'सुख चाहहिं मूढ़·····'* इति। (क) धर्मसे सुख होता है, यथा—*'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥'* (२०) ये धर्म करती ही नहीं तब सुख कैसे मिले? इसीसे *'मूढ़'* कहा। (ख) '**कठोरि**'=ठोस, जिसमें कुछ उपदेश धसे नहीं।

४ *'पीड़ित रोग न भोग कहीं'* इति। भाव कि भोगसे रोग होता है, यथा—'**भोगे रोगभयम्**' और रोगी शरीरमें तो भोग व्यर्थ ही हो जाते हैं, यथा—*'सरुज सरीर बादि बहु भोगा॥'* (अ० १७८), पर यहाँ उलटा ही हाल है कि भोग कहीं देखनेको भी नहीं, फिर भी सब रोगसे पीड़ित हैं। अकारण ही—*'बयरु अकारन सब काहू सों॥'* (३९। ६) देखिये।

लघु जीवन संबतु पंच दसा। कल्पांत न नास गुमान असा॥ ४॥
कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ* अनुजा तनुजा॥ ५॥
नहि तोष बिचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भए मँगता॥ ६॥
इरिषा परुषाक्षर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता॥ ७॥

शब्दार्थ—संबतु=वर्ष। **बिहाल**=बेहाल, परेशान। **कुजाति**=नीच जातिवाला।

अर्थ—जीवन (आयु) थोड़ा, दस-पाँच-पंद्रह वा पचास वर्षका है, पर गर्व ऐसा है कि कल्पान्त (४ अर्ब ३२ करोड़ वर्ष) होनेपर भी उनका नाश नहीं होनेका॥ ४॥ मनुष्योंको कलिकालने बेहाल कर डाला। कोई बहिन-बेटीका विचार नहीं करता॥ ५॥ न सन्तोष है न विचार (सदसद्विवेक) और न शीतलता (क्षमा, शान्ति)। (अतः) सब जाति कुजाति अर्थात् ऊँच-नीच सभी जातिके लोग मँगता हो गये (अर्थात् जिनको भिक्षा न माँगनी चाहिये वे भी भिक्षा माँगनेका व्यापार करने लगे तथा सभीकी भूखसे यह दशा हो रही है, किसीके पास खानेको नहीं, अतः सुजातिको भी भिक्षासे पेट भरना पड़ता है)॥ ६॥ ईर्ष्या (डाह, कठोर) कड़वे वचन और लालचपन (विषयलम्पटता) परिपूर्ण भर गया समता चली गयी (अर्थात् विषमता भाव रह गया)॥ ७॥

नोट—१ *'लघु जीवन संबतु पंच दसा'* इति। यह कठिन कलिकालकी बात कह रहे हैं। *'पंच दसा'* से बहुत अल्प आयु सूचित की। दस, पाँच, पन्द्रह, पचास। भा० १२। २ में श्रीशुकदेवजीने कहा है कि कलिमें मनुष्योंकी आयु बीस-तीस वर्षकी होगी। यथा—'**त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम्।**' (११) अल्पायुका कारण पहले लिख आये—*'नर पीड़ित रोग······अभिमान बिरोध अकारन ही'* इत्यादि। वैसे ही भागवतमें भी इसके पूर्वार्धमें कहा है '**क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तापेन च चिन्तया।**' अर्थात् भूख, प्यास, रोग, संताप और चिन्तासे लोग अत्यन्त दुःखी रहेंगे।

वि० पु० ६। १। ३९, ४३ में लिखा है कि वेदमार्गका लोप, मनुष्योंमें पाखण्डकी प्रचुरता और अधर्मकी वृद्धि हो जानेसे प्रजाकी आयु अल्प हो जायगी। यथा—'**वेदमार्गप्रलीने च पाषण्डाढ्ये ततो जने। अधर्मवृद्ध्या लोकानामल्पायुर्भविष्यति॥ अल्पप्रज्ञा वृथालिङ्गा दुष्टान्तःकरणाः कलौ। यतस्ततो विनङ्क्ष्यन्ति कालेनाल्पेन मानवाः॥**'—इस तरह *'पंच दसा'* अल्पकालका ही वाचक है।

'कल्पांत न नास गुमान असा'—*'अभिमान बिरोध अकारन ही'* कहकर यह कहनेका भाव यह है कि अभिमान और अकारण विरोध जो करते हैं वह यही समझकर करते हैं।

२ *'कलिकाल बिहाल किए मनुजा।·······'* इति। *'नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा'* के साथ यह चरण होनेसे *'बिहाल'* का अर्थ 'कामासक्तिसे, कामके प्राबल्यसे विह्वल' होगा। *'मदन अंध ब्याकुल सब लोगा'* जो १। ८५। ५ में तथा *'मनजात किरात निपात किए। मृग लोग कुभोग सरेन हिए॥'* (१४ छंद) में जो भाव है वह यहाँ *'बिहाल'* शब्दसे सूचित किया।

'नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा' कहनेका भाव कि इनको कुदृष्टिसे देखना ऐसा भारी महापाप है कि उनका दण्ड वध ही है। यथा—*'अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥'* (४। ९। ७) *'इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥'* पर कलिमें लोग ऐसे कामान्ध हो जायँगे कि बहिन-बेटीका भी विचार न रह जायगा।

* कौ—भा० दा०।

पं०—भिक्षा-धर्म यति और ब्रह्मचारीका है पर सन्तोष और विचार नष्ट हो गये अतः सभी माँगने लगे।

रा० प्र०—सन्तोष नहीं है अर्थात् लोभ बहुत बढ़ गया है। ईर्ष्या अर्थात् *'देखि न सकहिं पराइ बिभूती।'* यथा *'पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरें इरिषा।'* (१। १३६। ७) इसीसे क्रोधमें कठोर शब्द मुँहसे निकल पड़ते हैं। पुनः, अपनेको दूसरेसे बढ़िया जनानेके लिये कठोर बोलते हैं। *'लोलुपता'* का भाव कि जीभ लपलपाती रहती है—*'कूकुरसे टुकराके कारन पुनि पुनि पूछ डोलाए'*—[लोलुपतामें चञ्चलताका भाव लोभके साथ-साथ है। यथा—*'चंचलचरन लोभ लगि लोलुप'*]

सब लोग बियोग बिसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए॥ ८॥
दम दान दया नहिं जानपनी। जड़ता पर बंचनताति* घनी॥ ९॥
तनु पोषक नारि नरा सगरे। परनिंदक जे जग मो बगरे॥ १०॥

शब्दार्थ—जानपनी=बुद्धिमानी, जानकारी, यथा—*'जानपनी को गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।'* (क० उ०) जड़ता=मूर्खता, वह स्वभाव जिससे हानि-लाभ, सुख-दुःख कुछ न सूझे।

अर्थ—सब लोग वियोग और विशेष शोकसे मारे गये। वर्णाश्रमके धर्म-आचरण उठ गये॥ ८॥ दम, दान, दया और ज्ञानपना वा बुद्धिमानी न रह गयी†, मूर्खता और दूसरेको ठगना यह अत्यन्त अधिक हो गया॥ ९॥ स्त्री-पुरुष सभी शरीरके पालन-पोषणमें लगे रहनेवाले हैं। जो परमेश्वर तथा परायेकी निन्दा करनेवाले हैं वे संसारमें फैले हुए हैं॥ १०॥

नोट—१ *'बियोग बिसोक हए'* यह भगवच्चरणारविन्दके निरादरका फल है, यथा—*'बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये॥'* (१४। छंद ५) सम्बन्धियों, प्यारोंका वियोग और वियोगसे शोक और शोकसे मृत्यु। विशोक है अर्थात् भारी शोक है, इसीसे मर जाते हैं, साधारण होता तो न मरते। पुत्र, इष्टहानि आदिमें शोक अधिक होता है।

वि० त्रि०—*'दम दान दया……घनी'* इति। ब्रह्मदेवने देवताओंको दमका, मनुष्योंको दानका और असुरोंको अहिंसा-(दया-) का उपदेश दिया, क्योंकि स्वभावसे ही देवता विलासी, मनुष्य कृपिण और असुर क्रूर होते हैं। अतः सयानापन दम, दान और दयामें दिखलाना चाहिये तो दम, दान और दयाके समय तो जड़ बने रहेंगे, पर दूसरोंके ठगनेमें उनकी बुद्धि खूब काम करेगी।

वै०—*'तनु पोषक'* वे कहलाते हैं जो माता-पिता इत्यादिको भुलाकर अपने ही भरके लिये अच्छा भोजन-वस्त्र संग्रह करते हैं, आप खाते-पहिनते हैं, दूसरेकी परवा नहीं करते। [पुनः *'तनु पोषक……'* का भाव कि यही एक उद्यम रह गया, धर्महेतु उद्यम न रह गया। (पं०)]

दो०—सुनु ब्यालारि काल‡ कलि मल अवगुन आगार।
गुनौ बहुत कलिजुग कर☆ बिनु प्रयास निस्तार॥

---

* 'परपंच तात घनी'—(का०)।

† १ पां०—अर्थ—पनी अर्थात् कौड़ीवाले, दम, दान, दया नहीं जानते।

२ पं०—'नहिं जानपनी।' जान-(ज्ञान-) का लोगोंको पनी (पण रीति) नहीं।

३ पनीका अर्थ 'प्रतिज्ञा करनेवाला' श० सा० ने दिया है, यथा—'बाँहपगार उदारसिरोमनि नतपालक पावन पनी।' यदि यहाँ यह अर्थ लगाते हैं तो अर्थ होगा कि दम-दया आदिकी प्रतिज्ञा करनेवाले कहीं जाने नहीं जाते, मूर्खता, ठगी अवश्य बहुत देखी जाती है। करुणासिंधुजीने 'प्रतिज्ञा करके दमदयादानको धारण करनेवाला कोई रहा ही नहीं' यह अर्थ किया है।

‡ कराल कलि (करु)। कराल मल कलिमल गुन आगार (का०)।

☆ गुन बडतौ कलिकालके।

कृतजुग त्रेता द्वापर * पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि… हरि नाम तें पावहिं लोग॥ १०२॥

अर्थ—हे व्यालोंके शत्रु गरुड़जी! सुनिये। कलिकाल पाप और अवगुणोंका घर है। कलियुगमें गुण भी बहुत हैं कि बिना परिश्रम भवसे छुटकारा हो जाता है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें जो गति योग, यज्ञ और पूजनसे प्राप्त होती है वही गति लोग कलिमें केवल भगवन्नामसे पा जाते हैं॥ १०२॥

नोट—१ (क) *'कलिमल अवगुन आगार'* यथा *'कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥'* (१। २७। ४) (ख) *'गुनौ बहुत'* इति। गुण तो एक ही कहते हैं—*'बिनु प्रयास निस्तार'* तब 'बहुत' कैसे कहा? भाव यह है कि यह एक ही गुण और सब युगोंके सर्वगुणोंसे अधिक है। (ग) *'बिनु प्रयास'* का भाव कि योग, यज्ञादिमें प्रयास है इसमें नहीं। इसमें तो स्मरण, गान और शरणमात्रसे निस्तार है यथा—*'नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥'* (१। २७। ५) जैसे कल्पवृक्षके नीचे जाते ही सब सोच मिट जाते हैं, कुछ करना नहीं पड़ता—*'जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।'* बा० २७ (४—७) देखिये।

नोट—२ *'कृतजुग……'* इति। मिलान कीजिये—**'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥'** (भा० १२। ३। ५२) अर्थात् सत्ययुगमें जो भवतरणरूप फल ध्यान करनेसे, त्रेतामें जो फल यज्ञोंद्वारा भगवत्-पूजनसे तथा द्वापरमें जो परिचर्यासे प्राप्त होता है वही कलिमें केवल हरिकीर्तनसे मिल जाता है। पुनश्च यथा—**'तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्। करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥'** (वि० पु० ६। १। ६०) **'ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥'** (वि० पु० ६। २। १७) **'अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान्गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥'** (वि० पु० ६। २। ४०) अर्थात् कलियुगमें मनुष्य थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही जो अत्यन्त उत्तम पुण्यराशि प्राप्त करता है वही सत्ययुगमें महान् तपस्यासे प्राप्त किया जा सकता है। जो फल सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ और द्वापरमें देवार्चन करनेसे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केवल भगवान्के कीर्तनसे मिल जाता है। इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यह एक महान् गुण है कि इसमें केवल कृष्णजीके नामसंकीर्तनसे मनुष्य परमपद पाता है।—यहाँ 'प्रथमनिदर्शना' 'द्वितीयविशेष' 'उदात्त' और 'यथासंख्य' अलङ्कार है।

३ कृतयुग, त्रेता, द्वापरके क्रमसे योग, मख, पूजा कहना था। यहाँ 'विपरीत क्रम यथासंख्य' है, अर्थ क्रमसे कर लेना होगा। ४—योग, यज्ञ, पूजनमें परिश्रम होता है और समय बहुत लगता है; इससे संदेह हो सकता है कि उसकी गति हरिगुणगानवाली गतिसे भिन्न और उत्तम होगी। इस संदेहके निवृत्यर्थ कहा कि *'जो गति होइ सो'* वही गति मिलती है दूसरी नहीं।

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥ १॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥ २॥
द्वापर करि रघुपति-पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥ ३॥
कलिजुग केवल हरिगुनगाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥ ४॥

शब्दार्थ—गाहा=कथा, गाथा, यथा—*'कीन्ह चहौं रघुपति गुनगाहा॥'* (१। ८। ५) *'खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* (१। ६। १)

अर्थ—सत्ययुगमें सब योगी और विज्ञानी होते हैं।† उसमें प्राणी भगवान्का ध्यान करके संसारसे तर जाते हैं॥ १॥ त्रेतामें मनुष्य अनेक प्रकारके यज्ञ करते हैं और (सब) कर्मोंको प्रभुको समर्पण कर

* कृत त्रेता द्वापर खयै—(का०) ।……कलिविषे—(का०)।

† वि० टी०—'योगसाधनासे विशेष ज्ञान प्राप्त कर ईश्वरका ध्यान……'।

भवपार होते हैं॥ २॥ द्वापरमें मनुष्य श्रीरघुनाथजीके चरणोंकी पूजा करके भवपार होते हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं है॥ ३॥ कलियुगमें केवल भगवान्‌की गुणगाथाके गान करनेसे ही मनुष्य भवसागरकी थाह पा जाते हैं॥ ४॥

पं० रा० व० श०—जो दोहेमें कहा उसीको अब विस्तारसे कहते हैं। सत्ययुगके आनेपर बुद्धि धर्ममय हो जाती है; इसीसे उसमें सब स्वाभाविक ही योगी और विज्ञानी हो जाते हैं।

नोट—१ ☞ यहाँ दिखाया कि भवनिवृत्तिके चार उपाय हैं। योग (ज्ञान), ईश्वरार्पित यज्ञ, पूजन और गुणगान। सत्ययुगमें चारों हैं पर योगविज्ञानद्वारा हरिध्यान प्रधान है। त्रेतामें यज्ञ, पूजन और गुणगान तीन ही रह जाते हैं; इनमेंसे यज्ञ मुख्य धर्म है। द्वापरमें पूजन और गुणगान दो ही रह जाते हैं, इनमेंसे पूजन ही उसका मुख्य धर्म है। और कलियुगमें केवल गुणगान रह गया।

नोट—२ योग-विज्ञान—ध्यान, यज्ञ और पूजन सबके साथ हरिका सम्बन्ध है। यथा—***'जोगी बिज्ञानी करि हरिध्यान' 'जग्य नर करहीं प्रभुहिं समर्पि' 'करि रघुपति-पद पूजा' 'हरि गुनगाहा गावत।'*** इससे सूचित किया कि शुष्क योग वा विज्ञानसे भव नहीं तर सकते, यथा ***'जे ज्ञानमान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'*** (१३। ३) बिना भगवत्-समर्पणके यज्ञ भी असमर्थ हैं, यथा—***'हरिहि समरपे बिनु सत कर्मा।—नासहिं—।'*** (आ० २१। ८, ११) भागवतमें भी कहा है—'**एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥ यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्। ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥**' (भा० १। ५। ३४-३५) '**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥**'(भा० १। ५। १२) '**एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्। यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥**' (३२) ये वाक्य श्रीनारदजीके हैं। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म मनुष्यके जन्म-मरणरूप संसारके कारण हैं, किंतु वे ही जब परब्रह्ममें अर्पित कर दिये जाते हैं, तो आप ही अपने नाशके कारण हो जाते हैं (अर्थात् उन कर्मोंका कोई फल नहीं भोगना पड़ता)। इस लोकमें जो शास्त्रविहित भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं उनसे भक्तियोगयुक्त ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कैवल्यमोक्षका कारण उपाधिरहित निर्मल ज्ञान भी भगवद्भक्तिके बिना सुशोभित नहीं होता, फिर भला जो सदा ही अमङ्गलरूप है और सत्त्वशुद्धिका कारण नहीं है वह ईश्वरार्पण-बुद्धिसे रहित कर्म कैसे शोभित हो सकता है? हे ब्रह्मन्! भगवान् परब्रह्ममें कर्मोंको समर्पित करना ही तापत्रयकी ओषधि है, सो मैंने आपको बतला दी।

कर्मोंको समर्पण करनेसे किये हुए धर्म कभी क्षीण नहीं होते। यथा—'**धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र॥**' (भा० ३। ९। १३) भा० १। ५। १२ वाला श्लोक प्रायः ज्यों-का-त्यों १२। १२। ५२ में भी आया है। भा० २। ४। १७ में श्रीशुकदेवजीका वाक्य है कि '**तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं**......॥' बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान्, मनस्वी और सदाचारपरायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको भगवदर्पण किये बिना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते। पूजा भी सगुण स्वरूप रघुपति-पदारविन्दकी हो, अन्य देवादिके पूजनसे भवपार नहीं हो सकते। क्योंकि वे सब तो स्वयं ही भवमें पड़े हैं, यथा—***'भव प्रवाह संतत हम परे'*** (देवस्तुति), ***'भवताप भयाकुल पाहि जनं'*** (शिवस्तुति), इत्यादि। तब वे दूसरेको कैसे तार सकते हैं? और कलिमें भी हरिगुणगानसे ही भवसे निवृत्ति कही।

३ (क) ***'कलिजुग केवल हरिगुनगाहा। गावत'*** इति। केवलका भाव कि यह सबसे सुगम है। यशगानमात्र ही तो करना है। दूसरा भाव कि हरिगुणगानमात्र ही एक उपाय है, दूसरा है ही नहीं, यथा—'**कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः।**' (ख) *'गावत'* से जनाया कि गानेमात्रकी देर है, फलमें देरी नहीं। योग, यज्ञादिमें देरमें फल मिलता है। यह सौलभ्यगुण कलियुगमें दिखाया। उनमें जन्मभर कर्म करनेपर कहीं भवतरण होता है।

☞ कृत, त्रेता और द्वापरके साधनोंका फल *'भव तरहीं'* कहा। यथा—*'करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी' 'प्रभुहि समर्पि करम भव तरहीं'* और *'नर भव तरहिं उपाय न दूजा।'* और कलिके साधनका फल *'पावहिं भव थाहा'* कहा। इस भेदमें क्या भाव है? इस भेदसे हरिगुणगानमें विशेषता दिखायी। वे भव तर जाते हैं पर थाह नहीं पाते और ये थाह पा जाते हैं, फिर इनको कभी उसमें डूबनेका डर नहीं रह जाता। वे अन्तमें भव तरते हैं, बीचमें डर बना रहता है और ये गुणगणगान करते ही भवत्राससे अभय हो जाते हैं, जीते-जी इनको भय नहीं रहता। संसारमें रहते हुए भी इनका समुद्रके पार जाना सहज दिखाया, औरोंको तरनेके लिये बड़ा परिश्रम दिखाया, इनको नावकी भी अपेक्षा नहीं। पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि *'तरहिं'* और *'पावहिं थाहा'* इस भेदसे जनाया कि हरिकीर्तनसे भवसमुद्र सूख-सा जाता है, पैरों-पैरों निर्भय होकर चले जाओ। यथा *'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥'* बैजनाथजी *'थाह'* पानेका भाव यह लिखते हैं कि—'नर-तन पाकर उससे भजन करना यही थाह पाना है; इस उपायसे दो-चार जन्ममें पार हो जाते हैं।'—(पर इसमें दास सहमत नहीं है।)

बा० २७ (३—७) में जो कहा गया था उसीको यहाँ विस्तारसे कहा है और जो वहाँ विस्तारसे कहा था उसे यहाँ संक्षेपसे कहा है। विशेष वहीं देखिये।

कृत जुग सब जोगी बिज्ञानी। करि हरि ध्यान	१ *ध्यान प्रथम जुग।* (१। २७। ३)
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि	२ *मखबिधि दूजें।* (१। २७। ३)
द्वापर करि रघुपति-पद पूजा। नर भव तरहिं	३ *द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।* (१। २७। ३)
कलिजुग केवल हरिगुनगाहा	४ *कलि केवल मल मूल मलीना। पापपयोनिधि जनमन मीना॥ नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥* (१। २७। ४, ६)।

श्रीकृष्णप्रेमभिखारीजी—यह कहना ठीक नहीं कि 'द्वापर-त्रेतादिकमें भगवान् नाम सुनकर तुरंत दौड़े आते थे, रक्षा करते थे। कलियुगमें ऐसा सम्भव नहीं।' कलियुग अपना जितना अधिक प्रभाव दिखाता है अन्य साधन उतने ही फीके पड़ते जाते हैं और उनकी शक्तिका ह्रास होता जाता है; परंतु नामकी महिमा उतनी ही अधिक प्रदीप्त होती जाती है। प्राचीन कालमें अन्यान्य साधनोंमें जो शक्ति बिखरी हुई थी वह नाममें पुञ्जीभूत हो गयी है। यदि त्रुटि है तो हमारे विश्वासकी। वर्णाश्रमधर्म अब कहाँ रहा? ब्रह्मचर्याश्रम गुरु-सेवाके साथ लुप्त हो गया। त्यागपूर्ण वानप्रस्थ अब दिखलायी नहीं देता। गृहस्थ और संन्यास-आश्रम अब केवल नामको ही रह गये—निर्जीव देहकी भाँति निस्सार हो गये।

कलिजुग जोग न जज्ञ न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥ ५॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥ ६॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥ ७॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥ ८॥

अर्थ—कलियुगमें केवल रामगुणगान यही एक अवलम्ब है, न योग है, न यज्ञ, न ज्ञान (हीका अवलम्ब हो सकता है)॥ ५॥ (सब योग-यज्ञ-ज्ञानादि) का भरोसा छोड़कर जो श्रीरामचन्द्रजीका भजन करते, प्रेमसमेत उनके गुणसमूहोंको गाते हैं वे ही भव तर जाते हैं, इसमें किंचित् सन्देह नहीं। कलियुगमें नामका प्रताप प्रकट है॥ ६-७॥ कलियुगका एक पवित्र प्रताप है कि मानसिक पुण्य (की पुण्यमें गणना) होते हैं, मानसिक पाप नहीं॥ ८॥

नोट—*'जोग न जज्ञ न ग्याना'* का अर्थ यह नहीं है कि वे रह ही नहीं गये, किंतु यह है कि इस युगमें उनका आधार नहीं लिया जा सकता। मनुष्य पापोंके कारण इन साधनोंके योग्य नहीं रह गये। इनके लिये मन, वचन और तन तीनोंका नीरोग होना आवश्यक है, जो कलिमें प्रायः असम्भव है। सबमें एक-न-एक उपाधि है और हरिगुणगान निरुपाधि है। निम्न उद्धरणोंसे भाव भली प्रकार स्पष्ट हो जायगा।

'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे।' (वि० ६६)
'जपतप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी॥'
'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज सम बाढ़त जाहीं।' (वि० १२८)
'कर्मजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको। ज्ञान बिराग जोग जपको भय लोभ मोह कोह काम को॥
दिन सब लायक भए गायक रघुनायक गुनग्रामको। बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन धाम को॥'
(वि० १५६।)

'कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये जैसे तम नासिबे को चित्रके तरनि।
करम कलाप परिताप पाप सान सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि॥
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदरभरनि।
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष बेष कहूँ न करनि॥' (वि० १८४)
'कोह मद मोह ममतायतन जानि मन बात नहिं जाति कहि ज्ञानबिज्ञान की॥' (वि० २०९)
'नाहिंन आवत आन भरोसो। एहि कलिकाल सकलसाधन-तरु है श्रम फलनि फरो सो॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो। पायहि पै जानिबो कर्मफल भरि भरि वेदु परो सो॥
आगमबिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो। सुख सपनेहु न जोग-सिधि साधन रोग बियोगु धरो सो॥
काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो। बिगरत मन सन्यास लेत……' (वि० १७३)
'दम दुर्गम दान दया मख कर्म सुधर्म अधीन सबै धन को।
तप तीरथ साधन जोग बिराग सो होइ नहीं दृढ़ता तन को॥
कलिकाल करालमें रामकृपाल इहै अवलंब बड़ो मन को।
तुलसी सब संयम हीन सबै इक नाम अधार सदा जन को॥'

पं० रा० व० श०—१ *'कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक*……' —भाव कि योगमें शरीरबल चाहिये, इन्द्रियनिग्रह और चित्तकी एकाग्रता चाहिये, कलिमें चित्त एकाग्र करनेकी जरूरत नहीं, केवल बैठकर नाम जपना चाहिये। यज्ञमें वेदपाठी विप्रोंकी तथा धनकी जरूरत है; कलिमें वैसे विप्र मिलते नहीं, धन बिना सभी दुःखी हैं, अतः यह भी साधन नहीं रह गया। द्वापरमें पूजासे भव तरते हैं पर पूजा अङ्ग-उपाङ्गसहित विधिपूर्वक की जाती है, ऐसी पूजा भी कठिन है, यह भी कलिमें नहीं हो सकती। अर्थात् जो साधन अन्य युगोंमें प्रधान थे वे कोई नहीं निबह सकते।

नोट—२ *'एक अधार राम गुन गाना'* इति। पहले *'हरिगुनगाहा'* कहा और यहाँ *'राम गुन गाना'*, इस प्रकार हरिसे रामका बोध कराया। पूर्व गुणवाचक हरिपद दिया क्योंकि वहाँ क्लेशहरणका प्रसङ्ग था। भव क्लेश है। पुनः, *'हरि'* से श्रीरामजीको हरि, विष्णु आदिसे अभेद बताया।

पं०—योगादिसे चित्तकी शुद्धि होती है, जब वे नहीं रहे तब बिना चित्तकी शुद्धिके कल्याण कैसे होगा, उसपर कहते हैं—*'सब भरोस*……'

नोट—३ (क) *'सब भरोस तजि'* इति। भाव कि 'और भरोसा रहनेसे भजन और प्रेमसमेत गुणगान न होगा।' *'सब'* अर्थात् योग, यज्ञ, जप, तप आदि सबका; यथा—*'मुनि त्यागत जोग भरोस सदा।'* (१४ छन्द) (ख) *'सोइ भव तर*……' इति। अन्य भरोसा होगा तो भव तरनेमें सन्देह है; इसमें सन्देह नहीं, यथा— *'बिश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहि भव नाथ सो समरामहे।'* (वेदस्तुति १३ छन्द) इसीसे कलियुगमें सब भरोसा छोड़कर रामभजन करनेवालेको चतुर कहा है। यथा—*'कठिन काल मल कोस धर्म न ज्ञान न जोग जप। परिहरि सकल भरोस रामहि भजहि ते चतुर नर॥'* (आ० ६) इसमें धर्म, ज्ञान, योग और जपको गिनाकर तब *'परिहरि सकल भरोस'* कहकर जना दिया कि धर्म, ज्ञान आदि किसीका भी भरोसा न करे। (पं० रा० व० श० जीका मत है कि यहाँ भाव यह है कि जहाँतक बने योगादि करते जाओ पर उनका भरोसा भव तरनेके लिये न रखो। जब उनका भरोसा ही नहीं तब

कोई करेगा ही क्यों?) (ग) एकमात्र प्रभुका भरोसा करके भजन करे, उससे प्रेम होगा तब प्रेमसे कीर्तन करेगा जिससे भवनाश होगा। यदि यह क्रम लें तो 'भज' से श्रवणभक्तिका ग्रहण होगा।

४ (क) *'नाम प्रताप प्रगट।'* भाव कि और सबका प्रताप इस युगमें छिप गया। *'कलि बिसेष नहिं आन उपाऊ'* जो बा० २२ (८) में कहा था वह 'विशेषता' यहाँ दिखायी। नामका प्रताप अन्य युगोंमें प्रकट न था; क्योंकि तब लोग अन्य साधनोंहीमें लगे रहते थे। उन साधनोंके करनेकी उनमें योग्यता थी, इससे नाममें लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः नहींके बराबर थी, इससे नाम-प्रताप गुप्त रहा। कलिमें अन्य साधन हो ही नहीं सकते, इसलिये नामप्रतापका डंका बज रहा है। यथा—*'गति न लहै राम नाम सों अस बिधि सिरिजा को। सुमिरत कहत प्रचारि कै बल्लभगिरिजा को॥ अकनि अजामिल की कथा सानंद न भा को। नाम लेत कलिकालहू हरिपुरहि न गा को। राम नाम महिमा करै काम भूरुह आको। साखी बेद पुरान है तुलसी तन ताको।'* (वि० १५२) (ख) चौ० ४ में *'कलिजुग केवल हरिगुनगाहा'* कहा, फिर चौ० ५, ६ में *'एक अधार राम गुनगाना'* और *'प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि'* कहा। चौ० ७ में यहाँ *'नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।'* कहते हैं। ऐसा करके हरिगुणगाहा, रामगुणगान, रामगुणग्राम, गान और नामकी एकता सूचित की। नाम बीजरूप है, चरित उसीका विस्तार है। यथा—*'रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि।'*

५ *'कलि कर एक पुनीत प्रतापा'* का भाव कि—(क) उसका और सब प्रताप अपुनीत है, यथा—*'कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा'* केवल एक यही प्रताप पुनीत है। (ख) यह प्रताप सबमें प्रधान है; इसके आगे सब तुच्छ हैं। (ग) कलिमें ही यह पवित्र गुण है, अन्य युगोंमें नहीं। भाव कि अन्य युगोंमें मानस-पुण्य पुण्यमें तो गिने जाते हैं पर साथ ही मानस-पाप पापमें गिन लिये जाते हैं, इनका फल भी भोगना पड़ता है।

६ (क)—*'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा'* इस पदसे गोस्वामीजीने भा० (१।१८।७) के गुप्त आशयको स्पष्ट कर दिया है। **'नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्। कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥'** श्रीसूतजी ऋषियोंसे कह रहे हैं कि राजा परीक्षित्ने कलियुगको न मारा, क्योंकि वे भौंरेकी तरह सार पदार्थके ग्रहण करनेवाले हैं। उन्होंने कलिमें यह एक बड़ा गुण देखा कि इसमें पुण्य कर्म शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं और पाप कर्म करनेहीपर मनुष्य पापका भागी होता है। (ख) *'मानस पुन्य'* का भाव कि पुण्यका संकल्पमात्र मनमें किया है, वह पुण्य कर्मद्वारा अभी किया नहीं गया अथवा कोई ऐसा विघ्न उपस्थित हो गया कि वह संकल्प पूरा न किया जा सका, जैसे कि एकाएक संकल्पके पश्चात् धनहीन हो जानेसे, शरीरमें भारी रोग हो जाने इत्यादिसे; तो भी पुण्यका फल संकल्पमात्रसे ही प्राप्त हो जाता है। (ग) *'नहिं पापा'* अर्थात् पाप जबतक मनमें है तबतक मनुष्य पापका भागी नहीं होता। जबतक पाप कर्ममें परिणत न होगा तबतक उसका कोई बुरा परिणाम वा फल न होगा। पाप करनेपर ही पापका भागी होगा। (घ) *'होहिं'* का भाव कि जैसे और युगोंमें मानसपुण्य फलप्रद होते आये हैं वैसे ही इसमें भी होते ही हैं; विशेषता यह है कि मानस पाप अन्य युगोंमें फलप्रद होते हैं पर इस युगमें मानसिक पाप फलप्रद नहीं होते।-इससे ज्ञात हुआ कि प्रताप केवल पापके फलप्रद न होनेमें है। श्रीमद्भागवतके अनुसार 'होहिं' का अर्थ यह है कि पुण्यकर्म शीघ्र सिद्ध होते हैं, अन्य युगोंमें बहुत कालमें सिद्ध होते थे। बैजनाथजी लिखते हैं कि मानसपुण्य फलप्रद हो जाता है क्योंकि इसके न हो सकनेपर ग्लानि होती है।

☞ इससे प्रभुकी कलिके जीवोंपर असीम करुणा और अनुकम्पा दर्शित करते हैं। उन्होंने देखा कि *'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना॥'* है तब जीव बेबस है, मन तो कभी शुद्ध हो ही नहीं सकेगा तब ये जीव तो सदाके लिये भवमें ही पड़े रहेंगे। अतः उन्होंने कृपा करके अन्य युगोंके नियमका यह अपवाद Exception कलिके लिये कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें भी जब मनको जीतना पड़ता था, यथा—*'जीतहुँ मनहि सुनिय अस रामचंद्रके राज'* तब भला कलियुगमें वह कब थिर रखा जा सकता है?

पं० रा० व० श०—*'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।'* पुनीत प्रताप दिखाते हैं कि किसीको देखकर भी मनमें संकल्प हुआ कि हम भी ऐसा करेंगे पर कर न सका तो भी उसका पुण्य लिख गया। यहाँ

शङ्का होती है कि 'तब तो हम रोज ही मनसे कहा करेंगे कि हम दस हजारका ब्रह्मभोज करेंगे इत्यादि। हमारा पुण्य लिख जायगा?' इसका उत्तर यह है कि मानस पुण्य उसीको कहेंगे कि मनमें स्वत: संकल्प आ गया कि करेंगे पर कर न सके। जानकर संकल्प किया करना, यह वञ्चकता है, मानस पुण्य नहीं है। कलियुगमें यह प्रताप क्यों रखा गया? इससे कि कलिमें तन और वचनसे ही इतने पाप होते हैं कि ठिकाना नहीं। यदि मनके भी पाप गिने जाते तो '***पापपयोनिधि जन मन मीना***' होनेसे पापका भार शीघ्र ही इतना अधिक हो जाता कि प्रलय हो जाता, प्रलयका यही नियम है। इसलिये मनके पाप क्षमा कर दिये गये। परीक्षित्‌जीने इसी गुणको जानकर कलियुगको मारा न था।

वै०—मानस पाप इस युगमें नहीं लिये जाते, अन्यमें लिये जाते हैं। कारण यह है कि जैसे राजदरबारमें किसी चतुर पढ़े-लिखेसे कोई काम बिगड़ जाय तो उसका बड़ा अपराध समझकर उसको भारी दण्ड दिया जाता है। वही काम यदि किसी मूर्खसे बिगड़े या न बन पड़े तो वह अपराध नहीं गिना जाता। वैसे ही अन्य युगोंमें धर्मका प्रचार था तब लोग सुकृत करके मनको स्थिर कर लेते थे। उसको सुधर्मी बना लेते थे। अतएव तब मनमें पाप आया तो कैसे न लगे? वे रोक सकते थे पर उन्होंने रोका नहीं, और कलियुगी अज्ञ जीव मनको रोक नहीं सकते, अत: उनको मानस पाप नहीं लगता।

पर जो रामानुरागी धर्मात्मा हैं वे कलियुगी नहीं कहे जा सकते। वे यदि मनमें पाप लावें तो जरूर ही पाप लगेगा। इसी तरह अन्य युगोंमें भी अधर्मी अज्ञ जीवोंको मानस पाप लगता था। कारण कि वे आजन्मसे पाप कर रहे हैं? वे पापकर्म न करें उनके लिये यही बड़ा सुकृत है। तहाँ मनका पाप कौन है? ऐसे ही कलियुगी अज्ञ जीवोंको मानस पाप लगेगा। धर्मात्माको अवश्य लगेगा। जिसे सन्देह हो वह करके देख ले कि उसकी क्या दशा होती है।—[मेरी समझमें यह भाव ग्रन्थकारके शब्दोंका नहीं है। हाँ! उपदेशार्थ ऐसा भले ही कह दिया जाय। जान-बूझकर नामके बलपर पाप करना नामापराध है। वैसे ही जान-बूझकर ऐसा करेगा उसके कर्म थोड़े ही दिनोंमें पापमय होने लगेंगे। तब वह कर्मका दण्ड पावेगा पर जबतक मनमें रहा तबतक उसे उसका दण्ड न मिलेगा। मनमें पापका अनुसंधान करते-करते वह अवश्य कर्म करने लगेगा। अत: पापकर्म न हों इसके लिये मनमें भी पापका चिन्तन न करना चाहिये यह अवश्य है]।

पं० वि० त्रि०—कलियुगका पुनीत प्रताप कहते हैं कि मानस पुण्य होता है। मानस पूजन आदिका यथार्थ फल होता है, पर मानस पाप नहीं होता। कार्यमें परिणत हो जानेपर ही पाप होता है। अशुभ संकल्प उठनेपर भी कार्यमें परिणत न करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है। यदि कलियुगमें भी मानस पाप होता तो किसीका भी निस्तार असम्भव हो जाता यह ग्रन्थकारकी कपोलकल्पना नहीं है। इसके लिये ब्रह्मवैवर्तका वचन है। '**कलेर्दोषनिधेस्तात गुण एको महानपि। मानसं तु भवेत् पुण्यं सुकृतं नहि दुष्कृतम्॥**'

नं० प०—'पवित्र प्रताप मानसिक पाप नहीं लगनेके लिये कहा गया। (मानसिक पाप नहीं लगेगा यह कलिका पवित्र प्रताप है) किंतु मानसिक पुण्य होनेके लिये कलिका पवित्र प्रताप नहीं कहा गया है, क्योंकि मानसिक पुण्य तो जैसे हर युगोंमें होता था वैसे कलियुगमें भी होगा; अत: '***मानस पुन्य होहिं***' लिखा गया है। कलिमें मानसिक पापका नहीं होना लिखना जरूरी है, क्योंकि मानसिक पापसे बहुत लोग चिन्तामें पड़े रहते हैं।......'

दो०—कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुनगन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हे दान करै कल्यान॥१०३॥

अर्थ—यदि मनुष्य विश्वास करे तो कलियुगके समान दूसरा युग नहीं (क्योंकि इस युगमें केवल) श्रीरामजीके निर्मल गुणगणोंका गान करनेसे बिना परिश्रम ही मनुष्य भवपार हो जाता है। धर्मके चार

चरण प्रसिद्ध हैं (पर) कलियुगमें एक चरण प्रधान (यह) है कि जिस किसी प्रकारसे भी दान करनेसे कल्याण होता है॥ १०३॥

नोट—१ *'सम जुग आन नहिं।'* भाव कि यह अन्य तीन युगोंसे उत्तम है। ऊपर तो सब दुर्गुण ही कहे तब उत्तम कैसे? इसकी उत्तमता आगे बताते हैं कि बिना परिश्रम भवपार करनेवाला यही युग है। औरोंमें आजीवन परिश्रम करनेपर भी ठीक नहीं कि भव तर ही जायँ, किञ्चिद् चूक हुई कि गिर गये। और इसमें रामगुणगानमात्रसे तर जाते हैं।

कलियुगमें यह गुण देखकर राजा परीक्षित्ने उसे नहीं मारा। यथा—'**दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः। न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक्॥ यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना। तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥ एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत् सारनीरसम्। विष्णुरातः स्थापितवान्कलिजानां सुखाय च॥**' (भा० माहात्म्य १। (६७—६९)। अर्थात् दिग्विजय-समय कलिको दीन और शरणमें आनेसे तथा इससे कि राजा परीक्षित् भ्रमरके समान सारग्राही थे, उन्होंने उसे न मारा। यह सोचकर कि तप, योग, समाधिसे जो फल नहीं मिलता वह सब भी कलिमें केवल भगवत्-कीर्तनसे ही मिल जाता है, संसारकी कलिसे यह भलाई जानकर उन्होंने सारयुक्त कलियुगको छोड़ दिया। (ये नारदजीके वचन भक्तिप्रति हैं) पुनश्च—'**कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥**' (भा० १२। ३। ५१) अर्थात् दोषोंकी खानि कलियुगके अंदर एक महान् गुण है कि कृष्णके नाम-गुण-गानसे ही मनुष्य मुक्तसंग हो परमपदको जाता है।

२—*'बिमल'* का भाव कि ये गानेवालेके मनको भी निर्मल कर देते हैं। *'जौं नर कर बिस्वास'* का भाव कि इसमें सुगमता इतनी है कि प्रायः इसमें विश्वास नहीं होता। विश्वास न होनेसे रामगुणगानमें प्रवृत्ति नहीं होती और भक्ति न होनेसे भवपार नहीं होता, यथा—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।——'*, *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिश्वासा॥'* (९०। ८) विनयमें भी कहा है—*'तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। रामनाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥'* (वि० १७३)

नोट—३ *'प्रगट चारि पद धर्म——'* इति। (क) धर्मके चार पैर हैं—सत्य, दया, तप और दान। सत्ययुगमें धर्म इन चारों चरणोंसे उपस्थित रहता है। यथा—'**कृते प्रवर्त्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः। सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥**' (भा० १२। ३। १८) इसी तरह अधर्मके भी चार पैर कहे गये हैं।—वे हैं—असत्य भाषण, हिंसा, असन्तोष (तृष्णा) और कलह (द्वेष)। यथा— '**अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः॥**' (भा० १२। ३। २०) सत्ययुगमें अधर्म एक ही पैरसे उपस्थित रहता है और धर्म चारों पैरोंसे। त्रेतामें धर्म तीन चरणसे और अधर्म दो चरणसे, द्वापरमें धर्म दो पादसे और अधर्म तीनसे और कलियुगमें धर्म एक ही चरणसे और अधर्म अपने चारों चरणोंसे स्थिर रहता है। (प० पु० सृष्टिखण्ड पुलस्त्यवाक्य भीष्मप्रति)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि त्रेतामें अधर्मके प्रभावसे धर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्थांश घट जाता है। द्वापरमें अधर्मके चरणों-(हिंसा, असन्तोष, झूठ और द्वेष-) की वृद्धिसे धर्मके चारों चरणोंका आधा-आधा अंश क्षीण हो जाता है। कलियुगमें अधर्मके चारों चरणोंके बहुत बढ़ जानेसे धर्मके चारों चरणोंका केवल चौथाई भाग शेष रह जाता है और धीरे-धीरे क्षीण होता हुआ वह भी नहीं रह जाता। यथा—'**त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः। अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः॥**' (भा० १२। ३। २०) **तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे। हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः॥**'(२२) **कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्म-हेतुभिः। एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति॥**'(२४)

मानसका यह दोहा (पूर्वार्ध) *'प्रगट चारिपद——'* पद्मपुराण सृष्टिखण्डके वाक्यसे कुछ मिलता-जुलता है। वहाँ कहा है कि सत्ययुगमें तपस्या, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें एकमात्र दानकी प्रशंसा की गयी है।

सृष्टिखण्ड अ० १८ में नन्दाने भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**तपःकृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानकर्म च। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥**' (४३७)

प० पु० के उद्धरणोंके अनुसार *'प्रगट चारि......'* का भाव यह होता है कि धर्मके तप, ज्ञान, यज्ञ और दान इन चार चरणोंमेंसे एक-एक युगमें एक ही एक प्रधान रहता है। सत्ययुगमें तप प्रधान, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें दान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

☞ *कलि महुँ एक प्रधान'* कहकर सूचित किया कि जब धर्मके कारणरूप उपर्युक्त चार चरणोंमें एक दान ही अवशिष्ट रह गया है, तब धर्मेच्छुकोंका कर्तव्य है कि दान अवश्य करते रहें।

नोट—४ *'जेन केन बिधि दीन्हे'* इति। दानके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें ऐसा विधान है कि दान धर्म है यदि पात्रको दिया जाय। उत्तम देश और कालमें साधु पुरुषोंको प्रार्थना और सत्कारपूर्वक दान दे। शुभ कर्मोंद्वारा प्राप्त हुआ धन सत्पात्रको दे। देनेके बाद पश्चात्ताप वा दानका बखान न करे। दयालु, पवित्र, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सरल, योनि और कर्मसे शुद्ध, यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह सदा इन छः कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र है। ऐसे दानसे धर्म होता है। देश-कालादिका विचार न करनेपर पात्र और क्रियाकी विशेषतासे वही दान दाताके लिये अधर्मके रूपमें परिणत हो जाता है। (महाभारत शान्तिपर्व)

शान्तिपर्वान्तर्गत पराशरगीतामें दानकी तीन कोटियाँ कही गयी हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। बिना याचना किये हुए स्वयं जाकर जो दान दिया जाता है वह सर्वोत्तम माना गया है। याचना करनेपर दिया हुआ मध्यम है। अवहेलना तथा अश्रद्धासे दिया हुआ दान अधम है। सुपात्रको दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं होता।

आश्वमेधिक पर्वमें कहा है कि दान और उसका फल सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है और उसकी गति भी तीन प्रकारकी होती है। दान देना कर्तव्य है ऐसा समझकर अपना उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको (जिसका कुटुम्ब बड़ा हो तथा जो दरिद्र और वेदका विद्वान् हो) दिया हुआ दान सात्त्विक है। जो वेदका एक अक्षर भी नहीं जानता, जिसके पास संपत्ति है, जो अपना उपकार कर चुका है, सम्बन्धीको, प्रमत्तको, अपात्रको एवं फलकी इच्छा रखकर दिया हुआ दान राजस है। अवैदिक एवं चोरी करनेवाले ब्राह्मणको दिया हुआ तथा क्रोध, तिरस्कार, क्लेश और अवहेलनापूर्वक दिया हुआ दान तामस है।

गीतामें भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके दानोंकी व्याख्या भगवान्‌ने (अ० १७। २०—२२) में की है। तामस दान क्या है यह पूर्व दोहा १०१ में लिखा जा चुका है।

'जेन केन बिधि दीन्हे' कहकर जनाया कि चाहे वह तामस वा अधम दान ही क्यों न हो वह कल्याण अवश्य करेगा।

४ *'जेन केन बिधि'* अर्थात् जैसे भी बने। इससे जनाया कि विधिपूर्वक चाहे न भी हो, चाहे मनसे इच्छा भी न हो, जबरदस्ती भी किसीके डरसे किया हो, सकाम वा निष्काम हो, कैसे ही क्यों न किया जाय वह कल्याण ही करेगा।—(*कैसेउ गाढ़े सकरे दान होत सहाय*—रा० प्र०)।

पुनः, *'जेन केन......दान करइ कल्यान'* का भाव कि दान कल्याण तो सभी युगोंमें करता है पर तभी जब विधिपूर्वक हो। जैसा उपर्युक्त उद्धरणोंमें बताया गया है, नहीं तो वह दाताका कल्याण न करके उसको हानि ही पहुँचाता है, कलियुगमें सब युगोंसे यह भारी श्रेष्ठता है कि येन-केन-प्रकारेण दिया हुआ दान कल्याण ही करता है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—यज्ञ, दान और तपरूप कर्म मनीषी (मनन करनेवाले) पुरुषोंके लिये नित्यप्रति कर्तव्य हैं, क्योंकि ये पवित्र करनेवाले हैं। यथा—**'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥'** (१८। ५) *'कल्यान'* में *'पावनानि'* और *'जौं नर कर बिश्वास'* में **'मनीषिणाम्'** का भाव ले सकते हैं। जो विश्वास करेगा वह बुद्धिमान् है। भगवान् रामानुजाचार्यजी लिखते हैं 'मनन उपासनाको कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जीवनपर्यन्त उपासना करनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंके लिये कर्म उपासनाकी सिद्धिके विरोधी सम्पूर्ण प्राचीन कर्मोंका नाश करनेवाले हैं।'—यही अर्थ यहाँ *'करइ कल्यान'* का है।

'*दान*' का अर्थ है—अपने न्यायोपार्जित अन्न, धन आदि देने योग्य पदार्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सत्पात्रको देना, अपनी सम्पत्तिको दूसरेकी सम्पत्ति बना देना। दानोंमें अन्नदानका भी बड़ा महत्त्व है।—'***अन्नदान अरु रस पीयूषा।***' प० पु० में अभयको सर्वोत्कृष्ट दान कहा है। यथा—'**सर्वेषामेव दानानामिदमेवैकमुत्तमम्। अभयं सर्वभूतानां नास्ति दानमतः परम्॥**' (सृष्टि० १८। ४३८)

नोट—योग, ज्ञान, जप, यज्ञ और गुणगानसे '***भव तरना***' कहा और 'दान' से 'कल्याण'। इससे जनाया कि इससे 'भव तरना' नहीं होगा, आगेके लिये कल्याण अवश्य होगा, तब गुणगानमें मन लगेगा। (विशेष ऊपर लिखा गया है)!

पं०—ऊपर और प्रथम दोहेमें उनके लिये साधन बताया जिनको 'रामनाम रामगुणगान' में विश्वास हो। दूसरे दोहेमें उनके कल्याणके लिये साधन बताया जिनको उसमें विश्वास नहीं है पर धनी हैं। दूसरा अर्थ यह है कि कलिमें जहाँ दानधर्मकी प्रधानता है वहाँ चारों चरण धर्मके प्रकट हैं।

नोट—६ यह दानका प्रकरण है। और यहाँ येन-केन प्रकारेण दान करना कर्तव्य बताया गया है। अतएव यहाँ श्रद्धावान् दाताओंकी विज्ञप्तिके लिये आवश्यक कुछ बातें लिख देना असङ्गत न होगा। स्कन्दपुराण माहेश्वर-कुमारिकाखण्डमें इस विषयमें यह श्लोक है—'**द्विहेतुः षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्। चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥**' अर्थात् दानके दो हेतु, छः अधिष्ठान, छः अङ्ग, दो प्रकारके परिणाम (फल), चार प्रकार, तीन भेद और तीन विनाशसाधन हैं; ऐसा कहा जाता है।

श्लोककी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—(१) श्रद्धा और शक्ति दानके दो हेतु हैं। बिना श्रद्धा सर्वस्वका दान एवं प्राणदान भी फलप्रद नहीं, अतः सबको श्रद्धालु होना चाहिये। यथा—'**सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि।**'(३। ३०) **नाप्नुयात् स फलं किञ्चिछ्रद्धधानस्ततो भवेत्।**' श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनका सत्पात्रके लिये जो दान करते हैं वह थोड़ा भी हो तो उसीसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। कुटुम्बके भरण-पोषणसे जो अधिक हो, वही धन दान करने योग्य है। सामान्य (अत्यन्त तुच्छ अथवा जिसपर सर्वसाधारणका अधिकार हो), याचित (माँगकर लायी हुई), न्यास (धरोहर), आधि (बन्धक रखी हुई), दान (दी हुई वस्तु), दान-धन (दानमें मिली हुई वस्तु), अन्वाहित (जिस धरोहरको रखनेवालेने फिर दूसरी जगह रख दिया हो), निक्षिप्त (जिसे किसीने विश्वासपर अपने यहाँ छोड़ दिया हो) और 'सान्वय सर्वस्व दान' (वंशजके रहते हुए दूसरेको सब दे देना)—ये नौ प्रकारके दान वर्जित हैं। यथा—'**आपत्स्वपि न देयानि नववस्तूनि पण्डितैः। यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥**'(३। ४०)

(२) दानके छः अधिष्ठान ये हैं*—धर्मदान (जो केवल धर्म-बुद्धिसे दिया जाय), अर्थदान (मनमें प्रयोजन रखकर प्रसंगवश जो कुछ दिया जाय) काम-दान (स्त्री-समागम-सुरापान आदिके प्रसङ्गमें जो अनधिकारीको दिया जाय), लज्जादान (लज्जावश जो दिया जाय), हर्षदान (प्रियकार्य देखकर, प्रिय समाचार सुनकर जो दिया जाय) और भय-दान (भयसे विवश होकर जो दिया जाय)।

(३) दानके छः अङ्ग ये हैं—'**दाता प्रतिग्रहीता च शुद्धिर्देयं च धर्मयुक्। देशकालौ च दानानामङ्गान्येतानि षड् विदुः।**' (३। ५०) दाता (यह नीरोग, धर्मात्मा, श्रद्धालु, व्यसनरहित, पवित्र और अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला हो), प्रतिग्रहीता (जो कुल विद्या आचारका उज्ज्वल, शुद्ध जीवन-निर्वाह-वृत्तिवाला, इत्यादि सात्त्विक ब्राह्मण हो वह सर्वोत्तम अधिकारी है) शुद्धि (प्रसन्नता, प्रेम, सत्कारपूर्वक देना) धर्मयुक्त देय वस्तु (धर्म, न्यायोपार्जित हो, धार्मिक उद्देश्य रखकर दी जाय), देश और काल (जिस देश और कालमें जो पदार्थ दुर्लभ हो, उस पदार्थका दान करने योग्य वही देश और काल श्रेष्ठ है)।

---

* '**अधिष्ठानानि वक्ष्यामि षडेव शृणु तानि च।**
धर्ममर्थं च कामं च व्रीडाहर्षभयानि च॥' (स्क० मा० कुमा० ३। ४२)

(४) दानके दो परिणाम हैं—एक तो परलोक और दूसरा इहलोकके लिये। श्रेष्ठ पुरुषोंको दिये हुएका परलोकमें उपभोग होता है। असत् पुरुषोंको दिये हुएका भोग यहीं होता है।

(५) दानके चार प्रकार हैं—ध्रुव (कूप, तड़ाग आदि बनवाना, बाग लगाना, इत्यादि जो सबके उपयोगमें आवें), त्रिक (प्रतिदिन जो दिया जाय), काम्य (जो किसी इच्छाकी पूर्तिके लिये दिया जाय) और नैमित्तिक (कालापेक्ष अर्थात् ग्रहण, संक्रान्ति आदिकी अपेक्षासे दिया हुआ। क्रियापेक्ष जो श्राद्धादि क्रियाओंकी अपेक्षासे दिया जाय। गुणापेक्ष जो विद्या, अध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षा रखकर दिया जाय)।

(६) दानके तीन भेद ये हैं—उत्तम (घर, मन्दिर वा महल, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण इन आठ वस्तुओंका दान उत्तम है—'**गृहप्रासादविद्याभूगोकूपप्राणहाटकम्। एतान्युत्तमदानानि उत्तमान्यन्य-दानतः॥**' (३। ६६), मध्यम (अन्न, बगीचा, वस्त्र और अश्वादि वाहन ये चार मध्यम) और कनिष्ठ (जूता, छाता, वर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थरका दान)।

(७) दान-नाशके तीन हेतु ये हैं—पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा। यथा—'**यद्दत्त्वा तप्यते पश्चादपात्रेभ्यस्तथा च यत्। अश्रद्धया च यद् दानं दाननाशास्त्रयस्त्वमी॥**' (३। ६९)

नित जुग धर्म होहिं सब केरे*। हृदय राम माया के प्रेरे॥ १॥
सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ २॥

शब्दार्थ—**सुद्ध सत्त्व**=वह सत्त्वगुण जिसमें रजोगुण अथवा तमोगुणका लेशमात्र न हो, केवल सत्त्व-ही-सत्त्व हो।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी मायाकी प्रेरणासे सबके हृदयमें सब युगोंके धर्म प्रत्येक युगमें नित्यप्रति हुआ करते हैं॥ १॥ शुद्ध सतोगुण (वृत्ति), समता, विज्ञान और मनमें प्रसन्नता जान पड़नी यह सतयुगका प्रभाव है॥ २॥

नोट—१ प्रत्येक युगमें चारों युगोंके धर्म नित्य होते हैं। हृदयमें इनकी प्रेरणा हुआ करती है, यह कहकर फिर इसकी पहिचान बताते हैं कि कैसे जानें कि किस समय हमारे हृदयमें किस युगके धर्मकी प्रेरणा हो रही है।—'*सुद्ध सत्व—*' इत्यादिसे। जब हृदयमें शुद्ध सात्त्विक भाव उठें, सब जीवोंमें समता भाव हो रहा हो, किसीसे वैर-विग्रह न हो, सबमें एक समान ईश्वरको देखनेकी बुद्धि हो, विशेष अनुभव-ज्ञानका प्रादुर्भाव हो रहा हो और मन प्रसन्न हो तब समझे कि कृतयुगका प्रभाव हृदयपर है।—(पांडेजी '*सुद्ध सत्व समता*' का यह भी अर्थ लिखते हैं कि 'जब शरीर शुद्ध हो, सत्य (सत्त्व) और समता भाव हो)'।

पं० रा० व० श०—युगके धर्म होते हैं। यह धर्म कालधर्म कहलाता है—(आगे कहा भी है—'*कालधर्म नहिं ब्यापहिं ताही*')। युगका धर्म शरीरमें व्याप्त हो जाता है। जैसे सर्दीमें सर्दी, गर्मीमें गर्मी। '*नित जुग धर्म होहिं सब केरे*' का अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है—(प्रत्येक युगमें उस) 'युगका धर्म सबके हृदयमें नित्य होता है, दूसरा यह कि 'चारों युगोंके धर्म सबके हृदयमें नित्य होते हैं।'

नोट—२ श्रीमद्भागवतमें इसके सम्बन्धमें एक श्लोक तो यह है—'**कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्। अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते॥**' (भा० १२। २। ३९) श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये ही चार युग हैं। ये अपने क्रमके अनुसार पृथ्वीपर देहधारियोंमें वर्तते रहते अर्थात् अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं। प्रायः टीकाकारोंने 'इनका अपने-अपने समय अपना प्रभाव दिखाना' अर्थ किया है। अर्थात् प्रत्येक युगमें उस युगके धर्मके अनुसार कर्म होते रहते हैं।

भा० १२। ३। श्लोक २६ से ३० में कहा है कि सभी प्राणियोंमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण होते

* 'कृतजुग होहिं धर्म सब केरे'—का० पं०। इसका अर्थ है कि 'सतयुगमें राममाया अर्थात् कृपासे प्रेरित सबके हृदयमें धर्म होते हैं क्योंकि कोई चरण न्यून नहीं।' 'नित' पाठमें अर्थ है कि 'सब युगोंके धर्म नित्य हैं और सब युगधर्म राममायाकी प्रेरणासे सबके हृदयमें होते हैं। सतयुगमें त्रेता, द्वापर और कलिका धर्म होता है। ऐसे ही चारोंका धर्म समझो'—(रा० प्र०)।

हैं। कालकी प्रेरणासे ये आत्मामें प्रवर्तित होते हैं अर्थात् समय-समयपर शरीर, प्राण और मनमें उनका ह्रास और विकास भी हुआ करता है। जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सत्त्वगुणमें स्थित होकर अपना-अपना काम करने लगती हैं, उस समय सतयुग समझना चाहिये। सत्त्वगुणकी प्रधानताके समय ज्ञान और तपस्यामें अधिक प्रेम करने लगता है। जिस समय मनुष्योंकी रुचि और प्रवृत्ति सकाम कर्मों अर्थात् लौकिक-पारलौकिक सुख-भोगोंकी ओर होती है और मन, शरीर और इन्द्रियाँ रजोगुणमें स्थित होकर काम करने लगती हैं तब समझना चाहिये कि उस समय त्रेतायुग अपना काम कर रहा है। जब लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ, मत्सर और काम्यकर्मोंकी रुचि हो तब रजोगुण तथा तमोगुणप्रधान द्वापर युग समझना चाहिये। जब कपट, झूठ, आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दीनताकी प्रधानता हो तब उसे कलियुग समझना चाहिये।

श्लोक २६—३० में जो कहा गया है, उसका मेरी समझमें यही अभिप्राय है कि किसी एक युगकी स्थितिमें अवशिष्ट तीनों युगोंके भी कुछ व्यवहार बने रहते हैं। अतएव हमारी समझमें *'नित जुग धर्म होहिं सब केरे'* का भी यह भाव है। यही अर्थ मानसकारका मत है। (श्लोक चौ० ३—५ में उद्धृत किये गये हैं।)

करु०—*'नित जुग धर्म होहिं सब केरे—'* इति। श्रीरामचन्द्रजीकी प्रेरणासे सबके युग-युगके धर्म नित्य वर्तमान होते हैं। सतयुगका धर्म सतयुगहीमें है, त्रेताका त्रेताहीमें है, द्वापरका द्वापरमें और कलियुगका कलियुगमें। इसीसे 'नित्य युगधर्म' कहा है। किन्तु—'तीनों युगोंके धर्म कलियुगमें सूक्ष्म-सूक्ष्म वर्तमान होते हैं, जिसमेंसे कलियुगका धर्म अति आधिक्यसे है—यही रीति सब युगोंमें जानो। किन्तु—'कोई पुरुष एक ही दिनमें चार प्रहरमें चारोंका धर्म वर्तमान करते हैं।'

'सुद्ध सत्व समता बिग्याना—' अर्थात् सतयुगका धर्म है कि शुद्ध सात्त्विक गुण होते हैं, उसीसे मनमें समता और विशेष आत्मज्ञान होता है जिससे सबके मन प्रसन्न रहते हैं।

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥ ३॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ ४॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥ ५॥

अर्थ—सतोगुण अधिक हो, कुछ रजोगुण भी हो, कर्मोंमें प्रीति और सब प्रकारसे सुख होना, यह त्रेताका धर्म है॥ ३॥ रजोगुण बहुत हो, सतोगुण बहुत ही थोड़ा हो, कुछ तमोगुण हो और मनमें हर्ष और भयका होना, यह द्वापरका धर्म है॥ ४॥ तमोगुण बहुत हो, कुछ रजोगुण हो और चारों ओर वैर-विरोध हो, यह कलियुगका प्रभाव है॥ ५॥

पं० रा० व० श०—त्रेतामें समता छूटकर कर्ममें प्रवृत्ति होती है, यह रजोगुणका प्रभाव है। द्वापरमें तामसके मेलसे भय भी होता है।

नोट—१ *'रज कछु'* भाव कि कर्म तो वे सात्त्विक हैं पर उनमें कुछ अहंबुद्धि, प्रतिष्ठा-मान-बड़ाईका विचार भी हो आता है। ऐसे कर्म करनेकी प्रवृत्ति जब मनमें हो और सब प्रकारका सुख हो तब समझे कि त्रेताका धर्म हृदयमें प्रेरित हो रहा है। इसी तरह जिस समय ऐसे कार्यकी ओर प्रवृत्ति हो कि जिसमें सत्त्वगुण तो नाममात्र है पर है वह सत्कर्म ही, उस कर्ममें अपनी बड़ाई और मान-प्रतिष्ठाकी चाह विशेष है और कुछ तामस विचार भी हैं। जब मनमें हर्ष भी है और मानसी चिन्ताके कारण भय भी रहता है तब जाने कि द्वापरधर्म वर्तमान है। इसी प्रकार जब विशेष तमोगुणी कर्म—उच्चाटन, मारण, मोहनादिकी प्रवृत्ति हो तब कलियुगके धर्म समझ लें। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि भगवान्‌के चले जानेपर युधिष्ठिरके मनमें विकार उत्पन्न होने लगे जिससे उनने जान लिया कि कलियुग आ गया। २—सतयुगमें धर्म चारों चरणोंसे पूर्ण रहता है, अतः उस युगमें शुद्ध सत्त्व ही रहता है। त्रेतामें धर्मका एक पाद 'सत्य' नहीं रह जाता, इससे उसमें रजोगुण भी आ जाता है। द्वापरमें धर्मके दो पैर 'सत्य और शौच' कट जाते हैं, इससे उसमें सतोगुण किञ्चित् ही रहता है, रज बहुत और कुछ तमोगुण रहता है। कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है, सत्य, शौच

और दया नहीं रह जाते; इससे उसमें तमोगुण ही विशेष रहता है। सत्त्व तो जाता ही रहता है, रजोगुण किञ्चित् रह जाता है। श्रीमद्भागवतके निम्न उद्धरणोंसे इन चौपाइयोंके भाव विशेष स्पष्ट हो जाते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः। कालसंचोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि॥
प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च। तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः॥
यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्। तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन्॥
यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः। कर्मणां चाऽपि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः॥
यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्। शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥ (१२। ३। २६—३०)

अर्थ पूर्व चौ० १ में दिया गया है। आशय यह है कि सत्त्वादि गुण जो पुरुषोंमें देख पड़ते हैं, वे कालप्रेरित हो (आत्मा) मनमें परिवर्तित होते जाते हैं अर्थात् ह्रास-उल्लासद्वारा स्वकार्य करते हैं। जैसे सूर्यादि नवग्रहोंमेंसे किसी एक ग्रहकी दशामें शेष अन्य आठ ग्रहोंकी भी अन्तर्दशा रहती है वैसे ही सत्ययुगादि चारों युगोंमेंसे किसी एक युगकी स्थितिमें अवशिष्ट तीन युगोंके भी कुछ व्यवहार बने रहते हैं, इसलिये कलियुगमें भी अशेष धर्मांशके ह्रासकी सम्भावना नहीं हो सकती। भाव यह निकला कि कलियुगमें भी प्रधान नहीं तो न्यून ही सही, कुछ-न-कुछ अन्य युगोंके भी धर्म बने रहते हैं। जिस समयमें (माया) कपट, (अनृत) असत्यता, (तन्द्रा) आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक-मोह, भय, दैन्य यह अधिक हों, उसे तमोगुण-प्रधान कलियुग कहा गया है।

मानसके 'तामस बहुत' की व्याख्या ही मानो श्लोक ३० है। माया, असत्य, आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय और दैन्य ये सब तामसगुण हैं।

करु०—सात्त्विक गुण तो पूर्ण और राजसगुणके चार भागोंमेंसे एक भाग त्रेतामें आ गया। इन्हीं गुणोंके अनुभूत सब नर-नारी कर्म करते हैं। इसीसे त्रेताके कर्म-धर्ममें सब सुख ही है; क्योंकि सात्त्विकसे केवल वैराग्य, योग, ध्यान और राजसके कारण यज्ञ इत्यादि सुन्दर भोग श्रीरामप्रसादी दोनों मिलनेसे त्रेतामें परम सुख है। द्वापरमें आधा राजसगुण और एक भाग सात्त्विक तथा एक भाग तामस होनेसे हर्ष, भय, शोक इत्यादि मिलकर व्याप्त होते हैं। कलिमें तामसगुण पूर्ण, राजस एक भाग और सात्त्विक तो जहाँ-तहाँ कहीं-ही-कहीं भगवत्कृपासे होता है, इसीसे सम्पूर्ण विरोध हो रहा है।

बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥ ६॥
काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥ ७॥
नट कृत बिकट* कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापै माया॥ ८॥

अर्थ—पण्डितजन युगोंका धर्म मनमें जानकर अधर्म छोड़कर धर्ममें प्रेम करते हैं॥ ६॥ जिसकी श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति होती है उसे कालके धर्म नहीं व्यापते॥ ७॥ हे पक्षिराज! नट-(मदारी-)का किया हुआ कपटचरित (=मायाजाल, इन्द्रजाल) विकट होता है पर वह माया उस नटके सेवकको नहीं व्यापती॥ ८॥†

नोट—१ (क) *'जानि मन माहीं'* का भाव कि जाननेसे उसका प्रभाव कम हो जाता है; क्योंकि उससे बचनेका उपाय किया जा सकता है, यथा—*'जाने ते छीजहिं कछु पापी॥'* (१२२। ३) जब यह जान लिया कि कलिका धर्म इस समय व्याप रहा है तब तुरंत उसका उपाय कर लें—भगवान्‌का कीर्तन करने लगें। [जानना 'बुध' का ही कहा, क्योंकि अधर्मका त्याग उन्हींका काम है; यथा—*'जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।'* (४। १५। ८) (रा० प्र०)]

वि० त्रि०—*'नित जुगधर्म होहिं सब केरे। हृदय राम मायाके प्रेरे।'* जिस भाँति महादशाके अन्तर्गत अवान्तर

* 'कपट बिकट—(का०, पं०)।'

† यहाँ अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त अलंकार है।

दशाएँ होती हैं, उसी भाँति सबके हृदयमें नित्य सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग वर्तता है। जब प्रसन्न मन हो तो समझना चाहिये कि कृतयुग वर्त रहा है। जब सब विधि सुख हो तब त्रेता समझना। जब *'हर्ष शोक भय मानस'* हो तब द्वापर समझना चाहिये, जब चारों ओर विरोध हो तब कलियुग समझना चाहिये। अतः जब प्रसन्न मन हो तब ध्यान धारण करे, जब सब विधि सुख हो तब यज्ञ करे। हर्ष, शोक, भयके समवायमें पूजन करे, और विरोध बढ़नेपर उसे छोड़कर हरिगुणका गान अथवा जप करे।

नोट—२ *'नहिं ब्यापहिं'* का भाव कि काल-धर्म यद्यपि सर्वकालमें बना रहता है तथापि जिसका प्रेम श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अत्यन्त है उसको वह नहीं व्यापता। यह कहकर आगे उसका उदाहरण देते हैं—*'नट कृत......।'*

३—*'नट सेवकहि न ब्यापै माया।'* यहाँ कपटका अर्थ खोला कि वह नटकी माया है, झूठी है। नटसेवक अर्थात् जो नटकी सेवा करता है, नटने जिसको वह माया बता दी है, यथा—*'जा पर होइ सो नट अनुकूला॥'* (३। ३९। ४) वह नटके इन्द्रजाल देखकर भ्रममें नहीं पड़ता। यथा—*'सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर—'* (३। ३९। ४) वैसे ही कालकृत धर्म श्रीरघुनाथजीके सेवकको नहीं व्यापते, यथा—*'रामराज नभगेस सुनु—काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥'* (२१) रामकृपासे सेवक भुलावेमें नहीं पड़ते।

वै०—*'नट कृत बिकट कपट......।'* कठिन कपट जैसे कि खपड़ेको रुपया बना देना, हाथसे वस्तु उड़ा लेना, वस्त्र जला देना और फिर ज्यों-का-त्यों कर देना इत्यादि नटकृत चरित सबको सच्चे प्रतीत होते हैं, यथार्थ कोई नहीं जानता कि झूठे हैं, सब भुलावेमें पड़ जाते हैं।

करु०—*'नट सेवकहि न ब्यापै माया'* इति।—भाव कि इसी प्रकार हरिप्रेरणासे हरिमाया, वा हरि अपनी मायासे स्वयं, वा हरि अपनी माया करके अनेक गुण-दोषयुक्त अनेक कलाएँ जो करते हैं वह हरिसेवकको नहीं व्यापतीं।—[आ० ३९ (४) और *'नट इव कपट चरित कर नाना॥'* (लं० ७२। ११) देखिये]

दो०—हरिमायाकृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥ १०४॥

अर्थ—भगवान्‌की मायाके किये हुए दोष और गुण बिना भगवद्भजनके नहीं जाते, ऐसा मनमें विचारकर सब काम छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करना चाहिये एवं करो॥ १०४॥

नोट—१ (क) दोष और गुण दोनों मायाकृत हैं, यथा—*'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक॥'* (४१) दोहा ४१ में *'गुन दोष'* कहा और यहाँ *'दोष गुन।'* भेदका कारण यह है कि वहाँ संतगुणका प्रश्न है और गुणसे ही प्रसङ्ग उठाया और उसीपर समाप्त किया है; यथा—*'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता' 'संत असंतन्ह के गुन भाषे'* अतः वहाँ गुण शब्द प्रथम कहा। और यहाँ कलिधर्मका वर्णन है अतः दोष शब्द प्रथम रखा। दूसरे, छंदमें जहाँ जैसा बैठता है वैसा क्रम रख दिया जाता है वैसा भी हो सकता है। (ख) दोष हरण करनेके सम्बन्धसे 'हरि' पद दिया। *'बिनु हरिभजन'* का भाव कि जिसकी माया उसीका भजन (सेवा) करनेसे उसकी मायासे बचत हो सकती है। यथा—*'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामायापतिहि॥'* (१। १४०) *'अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥'* (६२) *'काम सब'*—अर्थात् संसारसम्बन्धी सब कार्य तथा सब प्रकारकी कामनाएँ। *'तजि काम'*=निष्काम होकर।

☞*'कहउँ कछुक कलिधर्म'*—प्रकरण समाप्त हुआ।

दो०—तेहि कलिकाल बरष बहु बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गएउँ बिदेस॥ १०४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! उसी कलिकालमें मैं बहुत वर्षोंतक अवधमें रहा। अकाल पड़ा तब मैं विपत्तिके वश होकर परदेश चला गया॥ १०४॥

नोट—१ (क) *'तेहि कलिकाल'* इति। *'पूरब कलप एक प्रभु जुग कलिजुग मलमूल॥'* (९६) से प्रसंग उठाया था और *'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पापपरायन सब नर नारी।——भए लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभ कर्म॥'* (९७) पर छोड़ा था; अब वहींसे फिर उठाया। बीचमें ९८ (१) से दोहा १०४ तक ७ दोहोंमें कलिधर्म कहे। (ख) *'दुकाल'—'यह निसिचर दुकाल सम अहई॥'* (६। ६९। ३) देखिये। *'तब मैं गएउँ बिदेस'* से जनाया कि प्रजा ईतिभीतिसे दुःखी हो रही थी, अतः सुदेशको गये। यथा—*'ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिधि ताप पीड़ित ग्रह मारी। जाइ सुराज सुदेस सुखारी॥'* (अ० २३५। ३-४)

पं० रा० व० श०—**दुकाल**=दुर्भिक्ष, अकाल। दुकाल पद देकर जनाया कि साधारण अकालसे वह अकाल कठिन था। जब दो वर्ष लगातार वर्षा नहीं होती, दो वर्ष बराबर अकाल पड़ता है, तब दूसरे वर्षका अकाल दुकाल कहा जाता है। एक अकालमें अधिक कष्ट नहीं होता, क्योंकि उसमें पहिलेके बचे-खुचेसे लोग गुजर कर लेते हैं, दुबारा अकाल पड़ा तब खानेको कुछ रह न गया, क्या खायें? अतः मरने लगे।

गएउ उजेनी* सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी॥१॥
गएँ† काल कछु संपति पाई। तहँ पुनि करौं संभु सेवकाई॥२॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनिये। दीन, मलिन (मैला-कुचैला और मनमें उदास), कंगाल और दुःखी होकर मैं उज्जैन गया॥ १॥ कुछ समय बीतनेपर कुछ धन-सम्पदा पाकर फिर मैं वहीं शम्भुकी सेवा करने लगा॥ २॥

नोट—१ उज्जैन जानेका कारण कि वह देश सदा हरा-भरा रहता है। यह मालवा प्रदेशकी राजधानी है और महादेवजीकी पुरी है। अपने इष्टकी पुरी तथा अन्न-धनादिसे परिपूर्ण जानकर वहाँ गया। इसीको अवन्तीपुरी कहते हैं जो सप्त मुक्तिदाता पुरियोंमेंसे एक है।

वै० १—क्षुधासे पीड़ित होनेसे दीन अर्थात् मनसे दुःखित, मैले-फटे वस्त्र होनेसे चेष्टासे मलिन, पैसा न होनेसे दरिद्र और उससे दुखारी। २—*'कछु संपति पाई'* से वणिज-व्यापार, चाकरी इत्यादि करना जनाया। *'गएँ काल'* अर्थात् दो-चार वर्षमें।

नोट २—*'कछु संपति पाई'* से जनाया कि *'दीन दरिद्र'* न रह गया। दरिद्रके समान दूसरा दुःख नहीं, यथा—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* अतः पूर्व दुःखी थे।

पं० रा० व० श०—*'तहँ पुनि करौं'* से जनाया कि अवधमें रहता था तब भी करता था—*'सिवसेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी॥'* (९७। २) पर अकालमें धन न रह जानेसे सेवा छूट गयी थी, अब धन पानेपर फिर सेवा करने लगा। यह शिवसेवा बिना मन्त्र लिये करते थे। मन्त्र आगे मिलेगा।

बिप्र एक बैदिक सिव पूजा। करै सदा तेहि काजु न दूजा॥३॥
परम साधु परमारथ बिंदक। संभु-उपासक नहिं हरि-निंदक॥४॥
तेहि सेवौं मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता॥५॥

अर्थ—एक ब्राह्मण वेदविधिसे सदा शिवजीकी पूजा किया करता था, उसे दूसरा कोई कार्य न था॥ ३॥ वे परम साधु और परमार्थके ज्ञाता थे, शम्भुके उपासक थे पर हरिके निन्दक न थे॥ ४॥ मैं कपटसहित उनकी सेवा करता था। वह विप्र अत्यन्त दयालु और नीतिधाम थे॥ ५॥

नोट—१ (क) *'बैदिक सिव पूजा'* अर्थात् वेदमन्त्रोंसे शिवपूजा करता था। इससे शिवोपासनाकी प्राचीनता भी दिखायी। [पूजा तीन प्रकारकी होती है, वैदिक, तान्त्रिक और पौराणिक। वैदिक पूजा सात्त्विक है, पौराणिक रजोगुणी है और तान्त्रिक तमोगुणी है। (पां०) ब्रह्मकी उपासना वैदिक रीतिसे, अन्यकी तान्त्रिक रीतिसे होती है। (गौड़जी) पंजाबीजी लिखते हैं कि—*'बैदिक सिव पूजा'*=वेदविहित शिवार्चन। तात्पर्य यह कि एक तान्त्रिक

* उज्जैनहि—(का०)। † गएँ—(भा० दा०)।